आज इस्लाम के मसले

(सच्चाई और बदलाव के लिए एक आह्वान)

इरशाद मांजी

भारतीय जनता के लिए
हिंदी में प्रकाशित

सांस्कृतिक गौरव संस्थान
नई दिल्ली

आज इस्लाम के मसले
(सच्चाई और बदलाव के लिए एक आह्वान)

इरशाद मांझी

भारतीय जनता के लिए
हिंदी में प्रकाशित

सांस्कृतिक गौरव संस्थान
नई दिल्ली

इरशाद माजी ः एक पत्रकार - साथ ही मूर्तिभंजक, वाग़ी और उनके ही शब्दों में दुतकारी मुसलमान!

इस विवादास्पद किन्तु विचारणीय किताब में इरशाद मांजी ने इस्लाम के बुनियादी विचारों को ही चुनौती दी है। आज की ग़हरी घृणा और हिंसा की भावना और विना सोचे कुरान को पूरी तरह सही मानने के ख़िलाफ़ उनकी मुहीम है। अपने विवरण में ''इज्तिहाद''-इस्लाम की खोई हुई स्वतंत्र विचार करने की पुरानी पद्धति - का इतिहास बताते हुए उसे फिर बढाकर इस्लाम को सुधारने के लिए वह आह्वान करती हैं। मुसलमान और गैर मुसलमान इस प्रस्ताव का अध्ययन करके कुछ आगे बढें यही उम्मीद है।

एक नई विचारवंत लेखिका के इन विचारों को भारत की समस्त जनता के सामने लाने के लिए ही ''सांस्कृतिक गौरव संस्थान'' की तरफ से इस पुस्तक को प्रकाशित किया जा रहा है। हमारा प्रयास यही रहा है कि केवल शब्दशः अनुवाद नहीं पर मूल भावना और अर्थ का ध्यान रखा जाए।

मूल उर्दू एवं अंग्रेज़ी संस्करणों को लेकर इस हिन्दी किताब का गठन किया गया है। भाषांतरकार मेजर जनरल विश्वास जोगलेकर जी का जन्म पुणे में हुआ, विवाह लखनऊ में और अब निवास दिल्ली में है। भारतीय सेना में **34** वर्ष सेवा करके निवृत्ति के बाद समाज कार्य में जुटे हुए हैं।

पाठकों से यही अनुरोध है कि वे अपने विचार, टीका या शंकाएं हमें ज़रूर भेजें। पता एवम् ईमेल का पता प्रस्तावना के अंत में है।

हिन्दी संस्करण : ''आज इस्लाम के मसले''
(सच्चाई और बदलाव के लिए एक आह्वान)

सर्वाधिकार सुरक्षित – भाशांतरकार वि वास जोगलेकर, राश्ट्रीय उपप्रधान
सांस्कृतिक गौरव संस्थान
नई दिल्ली 110022, दूरभाश 11 26195368
[आई 703 सोमविहार, नई दिल्ली 110022
दूरभाश : 011 26191958 मोबाइल 1198992 37298]

[इस संस्करण का कोई हिस्सा लिखित अनुमति के बिना किसी भी प्रकार से छपाई या प्रका ान पद्धति, संगणक भंडारण जैसी किसी भी प्रकिया से करना मना है। समीक्षा के लिए छोटा उद्धरण कर सकते हैं।]

अंग्रेज़ी एवं उर्दू संस्करण : सर्वाधिकार सुरक्षित – इर ााद मांजी 2003, 2005
मूल प्रका ाक : व्हिन्टेज कनाडा, रैन्डम हाउस, टोरन्टो, कनाडा

प्रका ाक : सांस्कृतिक गौरव संस्थान,
डाकपेटी सं 5016, सेक्टर 5, रामकृश्णपुरम्,
नई दिल्ली 110022

सहयोग राि ा : 65 रुपये

मुद्रक एक्सेलप्रिंट
सी–36, फ्लैटेड फैक्ट्री कॉम्प्लेक्स
झण्डेवालान, नई दिल्ली–110 055

अर्पण पत्रिका

सादर समर्पण

"परबत पर मरनेवाला हर वीर था भारतवासी"

भारत के सभी नागरिक और सैनिक
जिन्होंने इस देश की स्वतंत्रता के लिए
अपने प्राणों की आहुति दे दी।

अनुक्रमणिका

विशय		**पृश्ठ**
प्रस्तावना		3
एक खुली चिठ्ठी	: ''मेरे साथी मुसलमानों'!	4
अध्याय–1	: मैं दुत्कारी गई मुसलमान कैसे बनी	6
अध्याय–2	: सत्तर कुमारियाँ	10
अध्याय–3	: हमने सोचना कब बन्द कर दिया	16
अध्याय–4	: दरवाज़े और कमरबंद	24
अध्याय–5	: कौन किसको धोखा दे रहा है ?	27
अध्याय–6	: इस्लाम	35
अध्याय–7	: आपरेशन इज्तिहाद	43
अध्याय 8	: सच्चाई की तारीफ में	52
अध्याय–9	: पश्चिम के लिए ऐ खुदा, तेरा शुक्रिया	56
उपसंहार		60

प्रस्तावना

पिछले साल इरशाद मांजी के नाम और लेखन की ओर हमारा ध्यान आकर्षित हुआ। कुछ शोध करने से लगा कि उनकी लिखी हुई किताब ''आज इस्लाम के मसले'' भारत की आम जनता के लिए उपयोगी होगी। इस किताब को कनाडा के 'रैंडम हाउस' ने पहले अंग्रेज़ी में और फिर उर्दू में भी छापा था। काफी प्रतिक्रियाएं भी हुईं। कुछ प्रशंसात्मक, कुछ निंदात्मक – पर यही देखा गया कि इसे पढ़ने के बाद, हर आदमी चाहे मुसलमान चाहे गैर मुसलमान, हर कोई सोचने पर मजबूर होता है। यही इसकी विशेषता है।

इरशाद एक पत्रकार तो हैं, परन्तु बागी भी हैं उनके ही शब्दों में 'झिड़की हुई, दुत्कारी गई मुसलमान' भी। बहुत साफ शब्दों में वह हमें आज के इस्लाम की विचारधारा, उसके मूलभूत सिद्धांत, आज के आचार–विचार या प्रचार एवं मुसलमानों की कुरान के प्रति गहन श्रद्धा की चर्चा करके इस्लाम के आज के मसले सामने रख देती हैं, एक खुले पत्र के रूप में। वैसे अपना परिचय वह स्वयं ही देती हैं। उनका परिवार कई दशक पहले युगाण्डा से कनाडा में चला गया था और वे वैंकूवर के एक कसबे में बस गए। कनाडा में आने के बाद कई साल तो इरशाद को वहाँ के एक चर्च में 'मुफ्त बेबी सिटिंग' में प्रवेश दिलाया गया जहाँ उसे प्रश्न पूछने और उत्तर पाने की आदत सी लग गई। वहाँ उसी के शब्दों में वह अपनी राय को परखने और अपनी मजहबी भावनाओं पर गहन विचार करने की दिशा में प्रेरित हुई। यही आदत आगे चल कर उसे आफत लगी, जब मदरसे में प्रश्न पूछने पर उसे एक ही उत्तर मिलता था – 'कुरान पढ़ो, सब समझ में आ जाएगा''। बस यहीं से उसका सफर शुरू हुआ – ''पढ़ो, सोचो और फिर सवाल पूछो''।

यह किताब सांस्कृतिक गौरव संस्थान की तरफ से इसीलिए अनुवादित एवं प्रकाशित की जा रही है कि भारत की आम जनता एक मुस्लिम विचारवंत स्त्री की सभी भावनाओं और प्रश्नों का उत्तर ढूंढने पर मजबूर हो, चाहे वह किसी भी तबके का नागरिक हो, चाहे वह किसी भी मत/विश्वास का या प्रथा का – चाहे हिन्दू, चाहे मुसलमान, चाहे ईसाई या और कुछ भी हो।

यही प्रार्थना है कि इन विचारों को समझने का प्रयास करें, सोचें और फिर कुछ करें। इसलिए हमने इसे सरल हिन्दी में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। भाशांतर करते समय हमने हर वाक्य का केवल भाब्द ाः अनुवाद करने की बजाए उसका अर्थ और संदर्भ देखकर उसका मतलब समझाने का प्रयत्न किया है।

इस कार्य में सांस्कृतिक गौरव संस्थान के महामंत्री डाक्टर महे ा चन्द्र, उपमहामंत्री श्री महेन्द्र अग्रवाल एवम् श्रीमती वंदना चटर्जी की तरफ से अमूल्य सहयोग मिला है। उनका और अन्य साथियों का सत ाः धन्यवाद।

आपसे अनुरोध है कि अपने विचार या प्रतिक्रियाएं हमें ज़रूर भेजें। हम उस पर उचित कार्रवाई करने का यत्न करेंगे। हमारा पता है :–

ई–मेल पता <sgsdelhi05@gmail.com> or <vjogi@yahoo.com>

श्रीकृश्णजन्माश्टमी
तिथि : भाद्रपद कृश्ण 8
दिनांक 16 अगस्त 2006

"ईमानवालों, न्याय के साथ जीओ और सही गवाही देना फिर वह चाहे अपने खुद के खिलाफ हो, अपने माता पिता के खिलाफ हो, या अपने बिरादरी के खिलाफ हो" (कुरान : 4 : 135)

एक खुली चिट्ठी

''मेरे साथी मुसलमानों''!

मैं आपके साथ पूरी तरह सच्चाई से बात करना चाहती हूँ।

जब मैं देखती हूँ कि किस तरह हमारे मजहब के रखवाले इतने सारे 'फतवे' निकाल रहे हैं, तो मुझे बहुत शर्म आती है। क्या हमारा दयावान् खुदा इतना कठोर हो सकता है कि हमें कुछ भी आनंद या मौज–मस्ती से मनाही कर देता है?

जब गैर–मुसलमान हमें कहते हैं – खुल के (इस्लाम के विषय में) 'बात करो', तब हम लोग कहते हैं – ''हम मुसलमानों के बर्ताव का स्पष्टीकरण क्यों दें ?'' पर जब हमें ठीक से समझा नहीं जाता है तो यही पता लगता है कि हमने अपने विचार स्पष्ट किए ही नहीं। मैं जब हमारे अपने दोष खुल कर बयां करती हूं तो मुझे दगाबाज़ कहा जाता है। किससे दगा कर दिया? नीति के आवरण से? या अच्छे व्यवहार से या समाज से?

हाँ, मैं मुंहफट हूँ। पर इससे आपको समझना ही पड़ेगा। मैं ऐसे सवाल पूछ रही हूँ जिसका जवाब देना ही पड़ेगा। यह क्या बात है कि फिलिस्तीन और इज़राइल के बीच जो कुछ हो रहा है, इसी बात में हम उलझ कर रह जाते हैं? इस्लाम यहूदियों के इतना खिलाफ क्यों है? इस्लाम के 'कोलोनाइज़र' कौन हैं – अमेरिका या अरब देश ? जब ईश्वर ने ही मानव समाज का आधा हिस्सा औरतों को बनाया है तो हम उसे क्यों छिपाना चाहते हैं? **कुरान में जब इतनी सारी त्रुटियां हैं या अंदरूनी विरोध है फिर उसे शब्दशः क्यों पढ़ना या मानना चाहिए?**

क्या आपको कुछ कष्ट हो रहा है? यह समझ लीजिए कि अगर इस्लाम के अंदर बैठे तानाशाहों (साम्राज्यवादियों) पर टीका नहीं करेंगे तो वे ही हमें ले जाएंगे – विष की तरफ, गरीबी की तरफ और पूरे अलगाव की तरफ। क्या इस दुनिया में यही इन्साफ है, जिसे ईश्वर ने हमारे लिए बनाया है ? अगर 'नहीं' – तो उसे खुल के हम सब क्यों नहीं कहते?

सुनते तो यही हैं कि मुसलमान तो प्रतिक्रिया के शिकार हैं। **फ्रांस में किसी ने इस्लाम को 'बेवकूफी का मजहब' कहा तो उस पर मुकदमा ठोका गया।** पर क्या यह गलत है कि हमें किसी ने तो कहा 'जागो'? और फिर कुरान में जो यहूदियों के खिलाफ द्वेष की भावना बढ़ाने वाले वाक्य हैं ? क्या हम अपने ऊपर मुकदमा सह सकते हैं? या फिर कहेंगे 'हम ही मजहबी हैं, शेष सब मजहब–द्वेषी हैं?''

इस तरह चिल्ला–चिल्ला कर अपने आप पर दया की भीख मांगना और फिर अपने दोषों के प्रति चुप्पी साधना, इसी से हम अपने ही खिलाफ काम कर रहे हैं। हम तो डूब ही रहे हैं और सबको भी साथ ले के जा रहे हैं। हे भगवान हम यह क्या कर रहे हैं?

आप सोचते होंगे कि ऐसा बोलने वाली यह है कौन ? **मैं एक दुत्कारी गई मुसलमान हूँ जिसे मुसलमानों ने ही डांटा, फटकारा है, दुत्कारा है, भर्त्सना की है।** *(इरशाद स्वयं अपने को दुत्कारी गई Refusenik मुसलमान कहलाती है।)* मुझे मुस्लिम होने से इन्कार नहीं, पर मैं उस यंत्र मानव (रोबोट) की तरह भी नहीं बनना चाहती जो अल्लाह के नाम पर चुपचाप चलते जाते हैं। याद रखें – जब दूसरे लोग हमारी विचार शक्ति और आत्मा पर अधिकार जमाने की कोशिश करें तो हमेशा उसका पूरा प्रतिकार करना चाहिए। यही भयानक शक्ति है जिसने एकतंत्रवाद (totalitarian system) को पूरी तरह खत्म ही कर दिया।

हमें इसी अत्याचार के खिलाफ आवाज़ उठानी है जो इस्लामी दिमाग पर छाया हुआ है। आज इस्लाम की यही समस्या है कि हमारे ऊपर यह वाक्य लादा जाता है कि 'जो कहा गया है–उसी का पालन करो।''

शायद आप कहेंगे कि यह 'सच्चा इस्लाम'' नहीं है। मैं भी आशा करती हूं कि आप सही हों। **इसीलिए मैं आप सब मुसलमानों को यह खुली चिट्ठी लिख रही हूँ।** क्योंकि मुझे विश्वास है कि मुसलमान सोचने वाले और रहमदिल हैं, जितना हमारे मजहबी गुरु बताते हैं, उससे कहीं ज़्यादा। पर इसके लिए ज़रूरी है कि आप जिस इस्लाम का, बिना सोचे, बचाव करते हैं–उसके बारे में थोड़ा साफ दिमाग से सोचना पड़ेगा। स्वयं मुसलमान भी असलियत जानते हैं और अगर आप अपने आपसे ईमानदार हों तो हमें भी सच्चाई का सामना करना ही पड़ेगा।

मुझे लगता है कि रसूल मुहम्मद भी आदर्शवाद और असलियत के भेद को समझ ही लेते। उनसे जब पूछा गया कि 'मजहब क्या है?'' तो उन्होंने कहा था मजहब वही है जिसमें हम दूसरों के प्रति कैसा व्यवहार करते हैं यह बताया गया हो। आज यही विचार हमें भी अपने जीवन में, व्यवहार में लाना चाहिए। आज इस्लाम का मतलब केवल 'आत्म–तुष्टि' (Complacency) रह गया है। हम मिलकर इस्लाम को बेहतर बना सकते हैं, जो औरतों का और

गैर–मुसलमानों का भी आदर करता हो। **इस्लाम में कोई भी गलतियां नहीं हैं, यह कहकर हम सच्चाई छुपा रहे हैं।** और इसी से अपने साथी इन्सानों और मुसलमानों से भी जिम्मा छुड़ा रहे हैं।

यह पत्र लिखकर मैं यह तो नहीं कह रही हूँ कि अन्य सारे मतों या पंथों में कोई समस्या नहीं है। फर्क बस यही है कि 'ईसाई पंथ की समस्याएं'' विषय पर पुस्तकालयों में कई किताबें मिल जाती हैं, वैसे ही ''यहूदी पंथ की समस्याएं'' विषय पर भी। हम मुसलमानों को इस वाद–विवाद में काफी सफर तय करना बाकी है। **तो चलें ? या किसी इजाज़त का इन्तज़ार है ?**

अध्याय–1

मैं दुत्कारी गई मुसलमान कैसे बनी

मैं चार साल की थी जब हमारा परिवार युगांडा से भाग कर कनाडा में आ गया। वहाँ हम लोग काफी अच्छी तरह रहते थे। पर वैसा ही मौका हम अपने 'काले' नौकरों को तो नहीं देते थे। उन्हें तो हम 'गुलाम' की तरह ही रखते थे। हर गलती पर उनकी खूब पिटाई भी होती थी। यही हाल हर मुस्लिम परिवार में था, जहाँ भी 'काले' नौकर रहते थे। शायद यही कारण था 'दादा इदी अमीन' ने फर्मान निकाला था कि अफरीका केवल कालों के लिए है, फलस्वरूप लाखों एशियाई परिवार हमारी तरह ही निकाल दिए गए। कनाडा में दो–एक साल के बाद हमारे पिताजी को पता लगा कि वहाँ के चर्च मुफ्त में 'बेबी सिटिंग' करते थे। बस हर हफ्ते जब हमारी माँ किसी भी काम से बाहर जाती तो हमें चर्च में रखा जाता था–मुफ्त जो था। वहाँ भी मुझे तरह–तरह के सवाल ही सूझते रहते थे – जैसे ईसा मसीह कहाँ से आया था? कहाँ रहता था? क्या काम करता था? शादी हुई थी कि नहीं? सवाल कुछ खास नहीं थे पर बड़ी बात यह थी कि हर सवाल का मुस्करा कर जवाब मिल जाता था।

फिर पता लगा कि एक मदरसा बनने वाला है। फलस्वरूप मुझे चर्च छोड़ना पड़ा–जहाँ मैं 'अच्छे ईसाई' का खिताब जीत चुकी थी। वहाँ चाहे जो भी हो, अपना मत कोई भी दूसरों पर नहीं थोपता था। वहाँ का यही खुलापन मुझे बहुत भाता था। घर में बिल्कुल इसके उलटा माहौल था। हमारे पिता का हथौड़े जैसा हाथ उनके सारे आदेशों का पालन करवाता ही था। चाहे वह हमें मारें–पीटें, हमारे पैसे छीन लें, मां को मारें या धमकाएं। एक बार तो चाकू लेकर मेरे पीछे पड़े तो मैं सारी रात छुपकर बैठी रही। मां तो रात को भी काम करती थी, उन्हें पता ही नहीं था। शायद वही बेहतर था।

इन सबसे बड़ा सवाल था–यह मदरसा जो वैंकूवर के रिचमंड कस्बे मे बनाया गया था, उसने इस प्रदेश के खुले वातावरण के बावजूद तानाशाही का रास्ता ही क्यों चुना? मुझे अपनी ज़िन्दगी के पांच साल – 9 से 14 साल की उम्र तक – वहीं बिताने पड़े। वहाँ आदमी और औरतें अलग–अलग रास्तों से दाखिल होते थे। खुदा की इबादत (आराधना) भी अलग–अलग हिस्सों में बैठकर करते थे। बीच में दीवार भी थी।

एक सीढ़ी थी और ऊपर मदरसा था। वहाँ लड़के–लड़कियों में एक पर्दा तो हर वक्त होता था। पर उससे गहरा पर्दा था, दिमाग और आत्मा के बीच। **यहाँ सीख मिली कि अगर आप 'सच्चे मजहबी' हैं तो सोचना नहीं चाहिए।** अगर सोचते हैं तो मजहबी नहीं हैं। यह बंदिश (पाबन्दी) मेरे 'सवालिया' स्वभाव के एकदम खिलाफ थी। यही मेरा अपना व्यक्तिगत झगड़ा था।

यह झगड़ा केवल यह मानने से सुलझ नहीं जाता है, कि 'सेक्युलर' (व्यावहारिक या लौकिक) और 'नॉन–सेक्युलर' (पाखंडी या धार्मिक) दो दुनिया हैं और उनके कायदे अलग ही हैं। चर्च में पढ़ाई के दिनों में मुझे कभी भी सवाल करने से मना नहीं किया गया। किन्तु इधर 'मदरसे' में चादर ओढ़कर (बुरके में) जाती थी और कुछ घंटों बाद, दबी हुई आत्मा लेकर बाहर आती थी जैसे कि इस चादर ने मुझे सोच–विचार से रोक रखा हो।

मेरी परेशानी यह थी कि मुझे 'मेरे' इस्लाम के बारे में और जानना था। कोई भी सवाल पूछने पर यही जवाब मिलता था 'इसकी इजाजत नहीं है'–क्यों नहीं है? ''कुरान पढ़ो–पता लग जाएगा।''

इन्हीं बार–बार कहे गए वाक्यों से मैं और सवाल पूछने लगी।

''हम यह अरबी भाषा में कुरान दुहराते ही क्यों हैं जब समझ में कुछ नहीं आता?'' और हर अंग्रेज़ी भाषांतर को गलत क्यों मानते हैं?

अगर कुरान इतना सीधा और सरल है तो उसे हर भाषा में क्यों नहीं कहा जा सकता? जब केवल 20 फीसदी मुसलमान 'अरब' हैं तो हम जैसे लोगों को दागी क्यों समझा जाता हैं? अब हम (अस्सी फीसदी) लोग कौन से इस्लाम को समझें ? किसका इस्लाम ? कैसे समझें ?

बहुत कोशिश की समझने की। किन्तु और कुछ भी पढ़ने के लिए हासिल करना बहुत मुश्किल था–सिवाय अरबी कुरान के। तेरह साल की हुई, तब खोज–खोज कर एक अंग्रेज़ी कुरान पैदा किया। पढ़ते–पढ़ते सालों निकल गए। अभी भी पढ़ ही रही हूँ।

सबसे अहम सवाल था–औरतें और उनका समाज में स्थान। फिर सवाल उठा, यहूदियों के प्रति द्वेष। हमें सिखाया जाता था–यहूदी तो पैसे से प्यार करते हैं–अल्लाह से नहीं, यदि उनसे दोस्ती रखोगे तो तुम्हारा चरित्र भी खराब हो जाएगा। जब हमें इतिहास पढ़ाया जा रहा था तो मैं पूछ ही बैठी **''जब कुरान एक शांति का संदेश है तो रसूल मुहम्मद ने एक पूरे यहूदी कबीले को क्यों मरवा दिया ?''** कोई जवाब नहीं था। मेरे सवालों के जवाब नहीं मिले किन्तु जब मैंने अपने शिक्षक को कहा कि मुझे इस बात का पक्का सबूत चाहिए कि मुसलमानों के खिलाफ यहूदियों का कोई छिपा इरादा है ? बस अंतिम जवाब था – या तो विश्वास रखो या निकल जाओ। – और अगर निकलना ही है, तो हमेशा के लिए निकल जाओ''

अच्छा यह बात है – बिल्कुल ठीक, और मैं निकल ही गई।

आपको यह अचंभा तो नहीं हो रहा है कि मदरसे से निकाले जाने के बाद मैंने पूरी तरह इस मजहब को ठोकर मार कर अपने अमरीकी व्यक्तित्व को क्यों नहीं अपनाया? आप समझ रहे हैं? हम मुसलमान इसलिए नहीं हैं क्योंकि हम वैसा सोचते हैं – पर हम पैदाइशी मुसलमान ही हैं। हम यही हैं।

मदरसा छोड़ देने से मेरी माँ बहुत शर्मिंदा हुई। पर वे मेरे स्वभाव को जानती थी इसलिए न तो उन्होंने माफी मांगने को कहा और न ही मुझे अपने साथ मस्जिद में जाने पर मजबूर किया। वैसे मैं दो एक साल वहाँ जाती भी रही। मुझे खुदा से तो प्यार था और मदरसे की गल्तियों पर मैं मस्जिद को क्यों सज़ा देती? यही सोचा था।

एक और बात बताऊँ। इस्लाम के पाँच स्तंभ है। जिनमें से एक है 'दान'। एक बार हमारे मस्जिद में ऐलान हुआ – मुसलमान भाई बहनों के लिए चंदा देने वाले अपने चेक तैयार रखें। मैंने एक सेविका से पूछा, 'यह पैसा कहाँ जाएगा'? जवाब में किसी संस्था का नाम बताया। फिर पूछा , 'यह किस काम में आएगा'? जवाब था ''अपने मुसलमान भाइयों को खाना खिलाते हैं।'' मैंने फिर पूछा ''कैसे मालूम पड़े कि यह पैसा वहीं जा रहा है जहाँ हम चाहते हैं?'' इस बार वह सेविका जरा झटक कर तैश में बोली – ''मुसलमानों को जा रहा है। यही तुम्हारे लिए काफी है।''

मुझे पैसे देने में कोई कष्ट नहीं था। पर जब जानकारी को छिपाया जाए तो ठीक न था। क्या सारे मुसलमान केवल मुसलमान होने के नाते दान पाने के लायक होते हैं? विश्वास या श्रद्धा की बात करें तो क्या मेरे सवाल में कुछ खराबी थी ? या सवाल पूछना ही एक जुर्म था ? फिर मैंने फैसला किया मेरा दान वहीं जाएगा जिसकी मैं स्वयं जाँच–पड़ताल कर सकूं। जैसे–जैसे मुझे मस्जिद भी मदरसे की तरह ही लगने लगी, तो मैंने वहाँ जाना भी कम कर दिया। फिर मैंने खुदा के साथ अपना निजी संबंध बनाना शुरू किया, किसी मजहबी समुदाय को मध्यस्थ बना कर नहीं। इसी भावना से मैंने अकेले में ही प्रार्थना करना शुरू किया।

वैसे मैं कई सालों से तड़के उठकर ठण्डे पानी से मुंह, हाथ, पैर धोकर अपनी चटाई पर मक्का की तरफ मुंह करके ही दस मिनट तक प्रार्थना करती थी। अनुशासन स्थापना के लिए तो ठीक था। पर यह ऐसे ही धोना, इधर मुंह करो, ऐसे प्रार्थना करो, इसी समय प्रार्थना करना, ये सारे बंधन सोच–समझ के बिना केवल आदतन प्रार्थना बन गई थी। ईश्वर की तरफ जाने के रास्ते से हटकर केवल एक 'तोता रटंत' बन गया था। मैं इन चीज़ों से हटने लगी।

ऐसे समय में इस्लाम को पूरी तरह छोड़ देना भी एक विकल्प हो सकता था। केवल एक चीज़ ने मुझे बांधे रखा, 'ईमानदारी'। मुझे हमेशा लगता था मुझे इस्लाम के गुण जानने चाहिए, केवल नौटंकी करना नहीं। मुझे इस्लाम की योग्यता–श्रेष्ठता की खोज थी और वह मुझे अपने तरीके से मालूम करनी थी। शायद कुरान ही यहूदियों एवं औरतों को गुलाम रखना चाहता है? शायद खुदा चाहता है कि सब लोग अरबी भाषा ही बोलें (या यह कानून कुछ ही आदमियों ने बनाकर 'ऊपरवालों' (अरबों पर) पर निर्भर रखना चाहा है?) कुरान में लिखी बातों से हटना शायद खुदा की तौहीन (निरादर) हो ? पर यह सब, जब तक मैं परख न लूं – तब तक इस्लाम को नहीं छोड़ सकती–वह भगौड़ापन होता।

अच्छी बात तो यह थी कि रिचमंड (वैंकूवर) जहाँ मैं रह रही थी वहाँ खोजबीन की पूरी आज़ादी थी। मैं जो चाहूं–चिंतन, शोध करना, बोलना, आदान–प्रदान, वार्तालाप, ललकारना या फिर सोचना–ये सारे उपलब्ध थे **पर मदरसे के माहौल में यह कुछ भी मुमकिन न था।** मुझे इस्लाम और पश्चिम में से एक को नहीं चुनना था। उससे उल्टा पश्चिम की समाजधारा ने ही मुझे इस्लाम चुनने की शक्ति दी। अब इस्लाम को मुझे चुनना था।

मजहब के बारे में मुझे कोई 'जुनून' नहीं था। पर कई बार सवाल उठते थे और उनके उत्तर ढूंढने के लिए एक ही जगह थी – वहाँ का पुस्तकालय। जो भी इस्लाम के बारे में पढ़ने को मिलता–वह बस एक पाठ्यपुस्तक की तरह। संदर्भ बहुत होते थे–पर कोई खतरा न होता था। फिर सन् 1989 में सलमान रूश्दी के खिलाफ खोमैनी ने फतवा जारी किया। जो भी टिप्पणी छपती थी वह केवल मुसलमानों के गुस्से के बारे में ही बताते – यह कभी नहीं पूछते थे – कि क्या कुरान वाकई वैसे ही शुद्ध, या ईश्वर की देन है, जैसे ये पुतले जलाने वाले रटते रहते हैं? क्या हो गया था इन पश्चिमी लेखकों को जिनसे मुझे इतना लगाव था? वे तो मजहब का आदर भी करते थे पर विचार खुलकर प्रकट करते थे। उस संकीर्ण विचारधारा से मुझे छुटकारा मिला – सन् 1990 के बाद, जब इंटरनेट ने जोर पकड़ा।

अल्लाह का शुक्र है कि इंटरनेट आ गया। फिर मुझे इस्लाम और पश्चिमी विचारधारा दोनों में विश्वास होने लगा, किसी जगह पर आप चुप भी रहें तो सब चुप नहीं रहेंगे। 'विचारधारा क्रांति' लाने वाले यहीं सांस लेने लगे थे। यहीं पर प्रकट हुए उनके प्रबल विचार और दोनों तरफ के वादविवाद खुलकर सामने आने लगे। बस फिर क्या था, इस्लाम पर टीका होने लगी–फिर मुझे इस्लाम के बारे में कई अजीब बातें पता लगने लगीं।

हम में से कितने लोग जानते हैं – कि इस्लाम किस सीमा तक ''यहूदियों की देन है?'' एकेश्वरवाद के कई मूलभूत सिद्धांत मुसलमानों को यहूदियों से ही मिले थे। जैसे ईश्वर के निर्माण की समानता, उसकी गूढ़ न्यायपद्धति, अच्छाई को चुनने की हमारी शक्ति, पृथ्वी पर रहने में हमारे जीवन का प्रयोजन, मृत्यु के बाद का अपार संसार–ये सारे विचार उन्हीं से मिले हैं। मेरी तो आंखें और दिमाग भी सुन्न रह गए जब यह विचार प्रस्तुत हुआ कि मुसलमानों को यहूदियों के विरोध में डूबे रहने की जरूरत ही नहीं है। उनसे द्वेष करने के बजाए हमें उनका आभार मानना चाहिए।

जब मैंने अपने आप शिक्षा प्राप्त की, उसके बाद ही समझ पाई कि मुसलमान उसी ईश्वर की भक्ति करते हैं जिसे यहूदी और ईसाई भी पूजते हैं। यही बात कुरान भी प्रमाणित करता है और यह बात मेरे 'मदरसे के बने' दिमाग में तब आई जब एक अंग्रेज़ धर्मज्ञानी लेखिका, कैरेन आर्मस्ट्रॉंग की पुस्तक पढ़ी। उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि रसूल मुहम्मद ने कोई नए ईश्वर को दुनिया के सामने लाने का वादा नहीं किया। उनका निजी ध्येय था–अरब लोगों को एक 'सही दिशा' बताना जो प्रथम रसूल अब्राहम को सर्वशक्तिमान् ईश्वर के संदेश के रूप में प्राप्त हुआ था। **मदरसे में मेरी पढ़ाई के दौरान कभी भी अब्राहम का नाम नहीं आया था, जबकी उन्हीं की संतानों ने यहूदी राष्ट्र की नींव रखी थी।** एकेश्वरवाद के संस्थापक थे यहूदी–जिनसे ईसाई और मुसलमान प्रकट हुए। **समझने की बात है कि अरबों ने ''एक ईश्वर'' का आविष्कार नहीं किया था। केवल उसका नाम रखा ''अल्लाह''।** जिसका अरबी भाषा में अर्थ है ''ईश्वर'''–वही ईश्वर जो यहूदी या ईसाइयों का है !

किन्तु मदरसे की पढ़ाई में ऐसा कुछ भी कहाँ हुआ था ? ऐसे भाव होता है कि इस्लाम के पहले कुछ भी नहीं था। अगर ऐसा होता तो हमारी विचारधारा में बहुत परिवर्तन होना चाहिए। अगर हमारे लोग यह समझ लें कि इस्लाम कई पुरानी संस्कृतियों का मिश्रण है–एक दम नया नहीं है– तो क्या हम 'दूसरे' लोगों को स्वीकार करेंगे? पता नहीं क्यों हम बाहरी प्रभाव को कतई नहीं मानते हैं–सिवाए इसके कि पश्चिमी देशों को दोष देते वक्त उनकी गलतियां गिनते हैं। **इसीसे एक मूलभूत मुद्दा उठता है कि 'क्या विश्व के बाकी मज़हबों से इस्लाम बहुत अनुदार–संकुचित है ?''**

जहाँ भी यह सवाल उठता है वहाँ मुझे यही आदेश मिलता है ''मज़हब और संस्कृति को आपस में गडमड़ न करना'' एक औरत ने ही मुझे कहा, ''औरतों को पत्थर मारना तो एक जनजाति का रिवाज है, इस्लाम का नहीं।'' मैं यह पूछती हूँ, अगर इस्लाम कुछ लचीला भी है तो वह केवल बुराई के लिए नहीं, अच्छे के लिए भी होना चाहिए। फिर हमारे मदरसे में उस रिचमंड का उदारपन कहाँ था, जिसने मदरसे को वहीं बनाए जाने में कोई रुकावट नहीं डाली।

मैं जब टी.वी.पत्रकार बनी तो कई लोग मुझे हर जगह पहचानने लगे–दुकानों में होटलों में, या ट्रेन में। एक तरफ तो मुझे कहते थे ''अगर बुर्का फेंककर दाढ़ियां नोचती हो तो खुदा ही तुम्हारी मदद कर सकता है।'' पर इसी के साथ कहते थे, तुम इस्लाम के साथ रहोगी तो यह बताओ उसमें इतने कट्टरपंथी क्यों हैं? और सवाल आते थे :–

– क्या मुस्लिम होते हुए भी तुम फेमिनिस्ट (स्त्रीवादी) बनी रह सकती हो?

– एक निष्ठावान् मुसलमान आत्मघाती कैसे बनता है ? और मुसलमान खुल कर बोलते क्यों नहीं ?

– क्या ऐसे खुलकर बातें करते हुए आपको डर नहीं लगता ?

– यहूदी, ईसाई और मुस्लिम मज़हबों के उपदेशकों के बारे में कभी कुछ मज़ाकिया बातें हम क्यों नहीं सुनते हैं ?

अंतिम प्रश्न से एक बात याद आती है। इस्लाम में यह भी बताते हैं कि ज्यादा हँसो नहीं। सच में। एक शेख साहब अपनी किताब में कहते हैं 'मुसलमान को उग्र या डरावना चेहरा बनाना जरूरी नहीं है, पर ज्यादा हँसने से यही साबित होता है कि आपको विनोद या हंसी ने परिवर्तित कर दिया है, जिससे हमारे स्वभाव एवं भक्ति कमजोर होती हैं।'' अब यह बताइए – अगर हँसना इतना भयानक हो सकता है तो अरबी भाषा को भी लय में सुनते हैं तो जो प्रभाव पड़ता है उस पर क्यों नहीं मनाही होती ?

मुझे तो आम जनता का जिज्ञासुपन बहुत अच्छा लगता है। इसीसे मेरी भी जिज्ञासा बढ़ती रहती है। मैं हर वक्त हर प्रश्न को लेकर लड़ती रहती हूँ और यही जनता है जो मुझे जागरूक रखती है। मुझे ऐसे भी पूछा जाता है कि आप इस्लाम से क्यों जुड़ी रहती हैं, जब कि इस्लाम में अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों या व्यक्तिगत मुद्दों में इतना उलझाव है ?अब यह प्रश्न तो ठीक ही है।

मुझे बार–बार पूछा गया पहला प्रश्न था – 'समलिंगत्व'। इस्लाम में रहते हुए मुझे अपनी 'समलिंगी' आचरण के लिए बहुत कुछ सहना–सुनना पड़ा है। पर मुझे जिसमें खुशी है उसे क्यों छोड़ दूं। इस्लाम तो मेरा 'मज़हब' है और यह तो मेरा 'आनंद' ! मैं अपने जीवन में कभी इस्लाम पर शोध करती रहती हूँ, टी.वी. का काम भी करती हूँ और अमरीकी महिलाओं की तरह ही रहती हूँ। इस खींचातानी में कभी सोचती भी थी कि इस्लाम त्याग दूं–डर कर नहीं–बस ईमानदारी से। यही सवाल मन में उठता था–'अगर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर मुझे 'समलिंगी' बनाना नहीं चाहता, तो मेरी जगह किसी और को क्यों न बना दिया ?''

इसी बात पर मैंने जिन मुद्दों पर ललकारा था उसका किसी भी मुसलमान ने जवाब नहीं दिया, वह था, ''अगर अल्लाह जो चीज़ बनाए वह उत्तम ही बनाता है तो उसी के कुरान में 'समलिंगत्व' की भर्त्सना क्यों की है? दुनिया की आश्चर्यजनक विविधता को ईश्वर ने सोच समझ कर बनाया है – तो सबको एक जैसा क्यों न बनाया ?

अब दूसरे प्रश्न पर विचार करते हैं जो 11 सितम्बर, 2001 (अमरीका की जुड़वाँ टावरों पर आघात) के हादसे के कुछ ही महीने पहले पूछा गया था । मेरे पास एक पत्र आया, उसमें नाइजीरिया के एक अखबार का अंश था, उसमें लिखा था

''बलात्कार की शिकार लड़की को 180 चाबुक की मार''

एक 17 साल की गर्भवती लड़की को इस्लामी कोर्ट ने 180 चाबुक की मार की सजा सुनाई है। लड़की को कुछ ही दिनों में बच्चा होने वाला है।

लड़की ने कोर्ट को बताया कि उसे उसी के पिता के तीन साथियों ने बलात्कार का शिकार बनाया। उसने सात गवाह भी पेश किए।

उसकी सजा शायद बच्चा होने के 40 दिन के बाद दी जाएगी।''

इसे भेजने वाले मेरे ही साथी ने लाल स्याही में लिखा था ''अब इस तरह का पागलपन और तुम्हारा मुस्लिम मज़हब – आपसी समाधान कैसे होगा ?'' अब मेरे व्यक्तिगत विचार और मज़हब के द्वंद्व के ऊपर यह नैतिक बोझ भी आ गया। उस वक्त तो मैंने खबर को अलग रख दिया–पर मुझे बार–बार मेरी अन्तरात्मा ने हिला दिया। क्या आपके ऊपर भी कुछ असर हुआ ? बलात्कार की इस मासूम निर्दोष की दुःखद कहानी हर शरीफ इन्सान को दहला देती है। **बेचारी की मान–मर्यादा तो लुट ही गई–उसने सात गवाह भी पेश किए और परिणाम 180 चाबुक की मार। ऐसे घोर अन्याय का समाधान मैं अपने मुस्लिम मज़हब से कैसे करूं ?**

इसी विषय ने मुझे सीधे टक्कर लेने पर मजबूर कर दिया और मैंने अपने जीवन के अगले अध्याय में प्रवेश किया–**वह था एक 'दुत्कार मुसलमान, जिसे अपनों ने ही दुत्कार दिया, ठुकरा दिया।**

अध्याय–2

सत्तर कुमारियां

जब से मैं मदरसे से जख्मी होकर निकली, तबसे मेरे सामने बड़ा सवाल था – क्या इस्लाम को अलविदा कहूँ ? इसका उत्तर देने के लिए मुझे यही खोज करनी थी–क्या इस्लाम में ऐसी कोई मूलभूत भावना है जिससे वह अन्य मज़हबों की तुलना में अधिक कठोर है–यानी यहूदी या ईसाई मत से – और जबसे मुझे मेरे अपने साथी ने ललकारा था–तबसे और भी अधिक।

सिर्फ एक नाइजिरिया की लड़की की कहानी ही नहीं थी जिससे दुख हो रहा था–**कोई भी मुस्लिम देश ले लीजिए–उसमें हो रहे अत्याचारों से दिल दहल जाता है। पाकिस्तान में औसतन दो औरतें रोजाना 'इज्जती मौत' में मारी जाती हैं और मारने वाले नाम लेते हैं अल्लाह का। माले देश और मॉरितानिया में छोटे–छोटे बच्चों को गुलाम बनाया जाता है। सूडान में यही काम वहाँ की इस्लामी सेना करती है। यमन और जॉर्डन में ईसाई कार्यकर्ताओं को गोली से उड़ा देते हैं। बांग्लादेश में कुछ कलाकारों को जेल भेजा गया था या देश से निकाला गया क्योंकि वे कुछ दूसरे मत के अल्पसंख्यकों के लिए आवाज़ उठा रहे थे।** और इन बातों के सबूत भी दर्ज हैं।

हाँ मैं फिर संस्कृति और मज़हब को जोड़ रही हूँ। **क्या सच में अब टोरंटों में भी वही क्रूर उजड्ड इस्लाम पनप रहा है ?** बताऊँ कैसे ? मैंने अपने टीवी प्रोग्राम में एक बार दो समलिंगियों की कहानी दिखाई थी। एक थी मरियम–जिसे ईरान में भ्रष्ट घोषित किया गया। वह तो कनाडा भाग आई थी पर अगर रहती तो क्या होता ? ईरान टीवी के कुछ दृश्य जो छिपाकर लाए गए थे–वे भी दिखाने हैं – शायद यही होता अगर पकड़ी जाती।

''दो औरतों को सफेद कपड़े में लपेटकर (जिंदा) एक गड्ढे में डाला। फिर आदमी और बच्चों की भीड़ ने पत्थर मार–मार कर उन्हें जख्मी किया–खून बहा दिया। मारने वाले हर व्यक्ति को बगल में कुरान रखना जरूरी था।

दूसरा एक आदमी था–अदनान–वह लंदन में था–अपने 'दोस्त' को मां से मिलाने ले गया। वहां के एक उपदेशक ने कहा 'ऐसे लोगों को न्याय देते समय नम्र होना भी जरूरी है। सर्वशक्तिमान 'कुछ भी' कर सकता है।'' और ये दो दृश्य दिखाने के बाद मुझे केवल विरोध ही सुनना पड़ा। **यह भी कहा गया कि ये 'सुअर' या 'कुत्ते' केवल 'यहूदी' ही हो सकते हैं।** ईरानी लोग पत्थर मारें या अदनान नम्र होकर उपदेश सुने–इन बातों का कोई भी प्रभाव न पड़ा। टोरंटों वाले मुसलमान यही कहते थे कि ऐसे लोग 'हमारे' हो ही नहीं सकते, ये तो 'उनके' जासूस हैं। (और यह इक्कीसवीं सदी के कनाडा के बड़े शहर की बात है)

मुझे तो हैरानी ही नहीं, उबकाई आ रही थी। यह कैसी संस्कृति है–गांव की या 'डिजिटल'। ये कैसे सुधरेंगे ? और यह हो कैसे ? यह तो मालूम था कि **आज के सुधरे हुए मज़हब, इस्लाम की तरह 'भेड़चाल' में विश्वास नहीं करते हैं।** ईसाई नेताओं को, उनके अपने विचारों में जो अन्तर आया है, उसकी जानकारी है। एक–दूसरे के मतों का खंडन या टीका–टिप्पणी तो करते हैं पर यह भी मानते हैं कि विचार के कई पहलू हो सकते हैं। यहूदी तो और भी आगे हैं। वे तो आपसी मतभेदों को और भी उजागर करते हैं। वे अपने धर्म ग्रंथों के साथ, उन पर की हुई टीकाएं या भाष्य भी रखते हैं। **इसके विपरीत मुसलमान तो कुरान को केवल उसकी नकल करने तक ही सीमित रखते हैं–उसका मतलब निकालने की बात ही नहीं है। इसीसे हमारी विचारशक्ति ही नष्ट हो जाती है।**

यहाँ पश्चिम में आए हुए मुसलमानों को भी यही शिक्षा दी जाती है कि कुरान ही ईश्वरीय इच्छा का अंतिम रूप है जिसने बाइबल या तोराह की जगह ली है। 'अंतिम हुक्मनामे' का मतलब है उसके बारे में प्रश्न नहीं पूछना, न ही उसका अर्थ निकालने का प्रयत्न करना। सिर्फ विश्वास करो। असल में रसूल मुहम्मद को देवदूत गब्रिएल ने पहला शब्द ईश्वर की तरफ से बताया, वह था 'जाप करो' या 'पढ़ो'। दोनों का सार इतना ही बताया जाता है कि उच्चार किए जाओ, और कुछ करोगे तो वह नुक्ताचीनी होगी।

इसी प्रकार के हैं–इस्लाम के 'हदीस'। ये 'आधिकारिक' लेख हैं जिनमें रसूल मुहम्मद ने जीवन में जो कहा या जो किया उनका वर्णन है। जो भी उत्तर कुरान से 'आसानी' से न मिले–कहते हैं वह हदीस में मिलेगा। सदियों से हमारे लिए कुछ विद्वानों ने उन्हें संग्रह करके रखा है। हमें तो सिर्फ उन आदेशों का (या जो इमाम चुन लें उनका) पालन करना है। देखा जाता है कि रसूल साहब भी – इन्सान होने के नाते–कुछ गलतियां भी करते थे। चुप ! हदीस में तो इनके अंतिम ईश्वरीय संदेश हैं–उन पर संदेह करना मना है।

क्या आप समझ रहे हैं यह ''अच्छाई की रेलगाड़ी' आपको कहां ले जा रही है? उस जगह जिसे मरा हुआ दिमाग़ (Dead brain) कहते हैं। इस्लाम के राज में जब कोई अन्याय होता है, तो ज्यादातर मुसलमान यही नहीं जानते कि वाद–विवाद कैसे करें, उस पर पुनर्विचार कैसे करें या सुधार कैसे हो। उस पर हमें कहा जाता है–यही अच्छा है,

क्योंकि अगर आप 'आदर्श वाक्यों पर' सच्चे टिके रहेंगे तो अन्याय होगा ही नहीं। हे भगवान् ! क्या पागलपन है ? **ऐसे गोलमोल सोचविचारों में रहने से ही तेज बुद्धि भी मंद हो जाती है और उसी में खतरा भी है।**

अब हर पंथ में ऐसे 'बंदरबुद्धि' लोग होते ही हैं। **अल–अक्सा मस्जिद (इस्राइल) के इमाम शेख अबू स्नेनी ने एक साक्षात्कार में कहा था ''आखिरी रसूल की आज्ञाओं का पालन करो–वर्ना ईश्वर के कोप से मर जाओगे,** जैसे कि हिटलर ने उसी की आज्ञा से लाखों यहूदियों का नाश किया था। **दुःख की बात यही है कि इस्लाम में ऐसे सोचने वाले ही मुख्यधारा बने हैं।** जब केवल रटने वाले ही नेता बन जाएं तो कोई अपनी कमी कैसे स्वीकार करेगा ? फिर ठीक करना तो बहुत दूर है।

इस सारी पृष्ठभूमि पर मैं केवल नाइजीरिया के हादसे पर ही नहीं बल्कि सारे के सारे विषयों पर विस्तार से सोचने लगी। यही देखने के लिए कि क्या इस्लाम पूरी तरह कठोरता में फँसा है। चाहे वह औरतों के बारे में हो या यहूदियों या ईसाइयों के या गुलामों के बारे में। या उन सभी के लिए जिन पर आज के इस्लाम ने घोर जुल्म किए हैं। इन गरीब प्राणियों के बारे में कुरान क्या कहता है? क्या वह एक बलात्कार की शिकार लड़की को कोड़े मारने के पक्ष में साफ–साफ कुछ कहता है–या कोई इशारा भी करता है ? और यह भी कि कोई औरत प्रार्थना में अग्रणी नही बन सकती ?

अगले कुछ महीनों तक मैंने इस्लाम की पवित्र किताब को आंखें पूरी तरह खोलकर, बड़े लगन से बार–बार पढ़ा।

पहला प्रश्न था–औरतें ! पहले किसे बनाया गया–आदम या हव्वा ? कुरान इस पर कुछ साफ नहीं कहता ! बस–एक आत्मा में जान फूंकी और फिर उसके साथी को बनाया कौन आत्मा था और कौन साथी–क्या फर्क पड़ता है ?

अब यह भी देखिए कि कुरान में वह 'पसली की हड्डी' कहीं नहीं है, न ही वह 'निषिद्ध फल–सेब' जिससे हव्वा ने आदम को लुभाया था। मतलब यह कि पुरुष के वर्चस्व का कोई समर्थन नहीं है। इसका उल्टा ही है। कुरान कहता है –''याद रखो तुम ईश्वर नहीं हो, इसलिए आदमी और औरतों को अपने अपने अधिकार मांगने में ईमानदारी रखनी चाहिए।'' अंत में तो कुरान यह भी कहता है कि "जिस माँ ने तुम्हें जन्म दिया उसका मान रखो–ईश्वर हमेशा तुम पर नज़र रखता है।''

पर आश्चर्य की बात यह है कि इसी अध्याय में कुछ ही पंक्तियों के आगे–कुरान ठीक उल्टे विचार देता है। कहा है, **''पुरुष का स्त्री पर अधिकार है, क्योंकि ईश्वर ने उसे (पुरुष को) उनसे श्रेष्ठ बनाया है और चूंकि वह अपनी संपत्ति से उनकी देखभाल करता है। अच्छी औरतें आज्ञाकारी होती हैं .... आप किसी से अवज्ञा की शंका रखें तो उन्हें चेतावनी दे दें, उनसे अलग सोएं, और उन्हें पीटें।''**

यह समझने की बात है। पिटाई करनी हो तो यह जरूरी नहीं कि अवज्ञा की जाए–बस शक ही काफी है। आदमी का 'शक' औरत की 'मुसीबत' बन जाएगा। वाह वाह! मैं शायद इसे कुछ ज़्यादा ही सरल कर रही हूँ। पर क्या करें ये कानून ही ऐसे भयंकर हैं।

इसी एक वाक्य से कितना असर होता है कि ''अपनी संपत्ति से आदमी औरत की देखभाल करता है !'' सन् 1990 में एक ''काहिरा घोषणा'' संमत की गई थी, जिसमें एक जगह कहा था ''आदमी और औरत का समान दर्जा होगा'' – और इसी के ठीक बाद कहा गया कि 'पति अपने परिवार के रखरखाव एवं सुरक्षा का जिम्मेदार होगा'। अब जहाँ कुरान ही कहता है औरतों पर अधिकार आदमी का ही होगा तो और क्या सोचना है। आप स्वयं ही समझ लें।

नाइजीरियाई बलात्कार की शिकार लड़की के संदर्भ में ही कुरान के एक परिच्छेद ने मुझे घायल कर दिया। यह कहना है, ''औरतें ही तुम्हारे खेत हैं, जब चाहो इन खेतों में जा सकते हो। अच्छे काम करो–और ईश्वर से डरो।''' अरे–क्या बात है––जब चाहो औरतों के पास जाओ और अच्छे काम भी करो। औरत एक भागीदार है – या केवल संपत्ति ? एक विद्वान् कहते हैं कि ''भागीदार –क्योंकि औरत भी खेत की तरह प्रेमपूर्वक देखरेख चाहती है। पर उस बात को छोड़ दिया 'जब चाहो' ! क्या इसी से आदमी को पूरा अधिकार दे दिया है । क्या चाहता है अल्लाह ? बराबर के भागीदार है – या केवल एक खेत। जैसे मर्जी हो रखो ?

अब मैं क्या मतलब निकालना चाहती हूँ वह तो मुझे मालूम है–पर ईश्वर क्या चाहता है–पता नहीं। इतनी उलट–पुलट बातों के बाद पता ही नहीं चलता किसी को। जो औरतों को कोड़े मारना चाहते है, वे कुरान का सहारा लेते हैं और वे भी, जो नहीं चाहते कि औरतें प्रार्थना में पहल करें। और वे भी जो बराबरी की बात करते हैं–वे सभी कुरान की ही बात करते हैं। इन बातों से तो मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँच सकी कि मेरे इस्लाम का और औरत को कोड़े मारने का कोई मेल–मिलाप नहीं हो सकता।

मैं यह समझती हूँ कि उन नाइजीरियाई इमामों ने मेरे स्वच्छ इस्लाम का ही बलात्कार किया है। **कुरान औरतों को समान अधिकार नहीं देता। वह पारदर्शी तो है ही नहीं केवल एक पहेली सा गूढ़वादी है। मुसलमान उसीसे केवल खींचतान करके मतलब निकाल लेते हैं। कुरान के नाम में जो फैसले करने हैं, वह ईश्वर की आज्ञा नहीं है,** आदमी की सोच से निकली हुई बातें है।

एक मुख्यधारा के ईसाई या यहूदी को तो यह बात समझ में आ जाएगी पर हमारे रूढ़ीवादी मुसलमान के लिए नहीं। वह तो बस इतना ही सोचता है कि कुरान हमारे लिए 'सीधा रास्ता' दिखाता है और हमारा कर्तव्य इतना ही है कि इसकी नकल करते जाओ ! सब झूठ है! सुना आपने ! बहुत बड़ा, ''दाढ़ी मूंछ वाला'' झूठ है।

निर्दोष होना तो दूर की बात है, कुरान के अंदर ही अपने आप से इतना संघर्ष है कि जो मुसलमान किताब के अनुसार जीते हैं, उन्हें यही सोचना पड़ता है कि किस मुद्दे पर अधिक ज़ोर दें और किस पर कम। शायद यही आसान तरीका है–जो भी अपने अपने विचार हों इसीके अनुसार किसी आयत को बढ़ावा दें, किसी की तरफ ध्यान ही न दें। और यह काम केवल उग्रवादी नहीं, उदार मत वाले भी करते हैं। वे कुरान की जो भड़काने वाली बातें लगती हैं उन्हें हलका कर देते हैं, ठीक वैसे ही जैसे हमारे विरोधी हमारी अच्छी बातों को छिपाते हैं। हर एक का अपना कुछ न कुछ कार्यक्रम है। शेष लोगों से कुछ अच्छा।

और जब हम यही खेल चला रहे हैं – जिसमें एक–दूसरे के विचारों को 'तुरुप' कर रहे हैं – हम अपना असली मकसद भूल जाते हें। वह यह है कि खुलकर कुरान के निर्दोष होने का प्रश्न बढ़ाएं ताकि आज जो कहना चाहते हैं कि **'उसमें वास्तव में क्या कहा है' वह भेड़चाल बंद हो। केवल शब्दशः अर्थ का पालन छोड़ कर उसके अर्थ पर विचार हो। आज सुधार का आशय यह नहीं है कि साधारण मुसलमान को 'क्या नहीं सोचना है' इसकी शिक्षा देते रहें। उसके बजाए करोड़ों मुसलमानों को सोचने की अनुमति दी जाए। जब कुरान पूरी तरह विरोधाभास से भरपूर है–कम से कम तब जब औरतों की चर्चा होती है–हमें पूरा अधिकार है कि सोचें!**

इसी विचारधारा को आगे बढ़ाने के लिए मुझे यह देखना जरूरी था कि क्या कुरान की इन स्पष्ट असंगतियों में कोई संगति है क्या ? सीधी तरह कहें तो क्या इस्लाम के ग्रंथ में और विषयों पर भी असंगति है। जैसे गुलामी ? अगर है–तो क्या इक्कीसवीं सदी के मुसलमान इक्कीसवीं सदी के अनुरूप फैसला कर सकते हैं ? मैंने सूडान के बारे में पढ़ा और फिर गुलामों के व्यापार के विषय में भी पढ़ा। आज भी खारतूम में तालिबान जैसे ही मुसलमान राजकर्ता, ईसाई और गैर अरब मुसलमान एवं भिन्न मत रखने वाले (Animist) प्रजा के विरुद्ध जिहाद के नाम से अत्याचार कर रहे हैं – जिसमें भारतीयों का कत्ल, औरतों पर बलात्कार और फिर बच्चों को मौत शामिल है। बचेखुचे बच्चे या औरतों को ले जाकर अरब मालिकों के सुपुर्द किया जाता है, ठीक गुलामों की तरह।

फिर उत्तरी नाइजीरिया के बारे में सोचा – यहाँ भी इस्लामी राजकर्ता ईसाइयों के गुलाम बनाए जाने को बढ़ावा देते हैं। चाहे यह राजनीति हो–पर **ऐसी दकियानूसी राजनीति कुरान के सहारे के बिना चल ही नहीं सकती।** अब कितना सहारा ? कितनी मदद ? यही सवाल मैं पूछ रही थी। जब मैंने मूल ग्रंथ पढ़ा तो उसमें यह वाक्य मिले ''तुम्हारे गुलामों में ये जो अपनी आजादी खरीदना चाहते हैं, उनमें अगर कुछ गुण हों तो उन्हें आजाद कर दो।'' थोड़ा रुकिए! इसका थोड़ा विश्लेषण करें, तो पता लगता है कि कुरान यह नहीं कहता कि सारे गुलामों को आजाद कर दो–केवल वही जिन्हें उनके मालिक सोचते हैं कि वे बढ़ सकते हैं। फिर भी हमें कुछ तो सोचने, फैसले करने का अधिकार दिया है। मतलब तो यही है कि कुरान की सहमति से हम सातवीं शताब्दी से निकल सकते हैं। गुलामी का भयानक अभिशाप मिटा सकते हैं। ये फैसले जो मुसलमान कर रहे हैं वे केवल उन्हीं के हैं – उन्हें अल्लाह के चरणों में रख कर मंजूरी नही दिलवा सकते।

क्या ऐसे भी हो सकता है कि कुरान व्यक्तिगत अर्थ निकालने का केवल समर्थन ही नहीं करता–बल्कि ऐसा प्रयास करना और शोध करना यही इस्लाम को जानने का एक सही तरीका हो। कुछ उत्साहित हो कर मैं आगे बढ़ी। एक महान् मानवीय अधिकार का मुद्दा लेकर – **गैर मुसलमान लोगों के साथ व्यवहार।** चूंकि इस्लाम यहूदी–ईसाई संस्कृति से ही उद्भव हुआ है, कुरान में उनके बारे में काफी कुछ लिखा है। अब्राहम का काफी प्रेम से वर्णन किया गया है। ईसा को कई जगह 'मसीहा' कहा गया है। उसकी माँ का भी कई जगह उल्लेख है। कुरान तो यहूदियों की उच्चकोटि की राष्ट्रीयता की बात करता है। इस बात को कई अलग–अलग प्रतियों में पढ़कर मैं आश्वस्त हो गई। इन बातों को ही देखें तो हम तो यही सोचेंगे कि कुरान यहूदी और ईसाइयों को आश्वासन देगा कि उन्हे तो आराम से रहना चाहिए–उनके लिए कोई भय नहीं है–अपने ग्रंथों के मर्यादा में रहते हुए। पर इसके विपरीत **कुरान कहता है कि केवल इस्लाम ही 'सही ईमान' है। अजीब बात है ? या नहीं है ?** एक बहुत अहम बात है यहां जो इस्लाम के जन्म से सबंधित है।

मुसलमानों को जिन सभी बातों पर विश्वास रखना चाहिए–वे बातें हमसे हजारों साल पहले यहूदियों को प्रकट की गई थीं। जब कुछ यहूदी अपने मजहब से अलग धारा में सोने के बछड़े की मूर्तिपूजा करने लगे तभी ईश्वर का प्रकोप हुआ था। कुछ लोग सवाल करेंगे कि यह कैसा ईश्वर है जो एक गाय के छोटे से बछड़े से डरता था ? मैं कहूंगी – ऐसा ईश्वर जो आपसी युद्ध में लगे हुए कबीलों को बचाना चाहता था। हाँ फिर उस बछड़े पर सोचें–यह मूर्तिपूजा फिर से आ गई तब अब्राहम के वंशज का आना जरूरी था, जो यहूदियों को 'ईश्वरीय सत्य' से फिर से अवगत करा दे। तब आया था 'ईसा'। तब आया था बाइबिल–जिसमें पुराने ग्रंथ को भी शामिल किया गया था। पर

कुछ ईसाई ईसा को केवल प्रेषित या ईश्वर का पुत्र नहीं – ईश्वर ही मानने लगे थे। मूर्तिपूजा फिर उभरने का अंदेशा था।

तब 610 ईसवी के आसपास मुहम्मद का जन्म हुआ, जिसका कार्य यही था कि फैले हुए कुविचार और यहूदी या ईसाइयों की बनाई कुरीतियों का उन्मूलन। इसी प्रवाह में इस्लाम भी पुरानी यहूदी शिक्षा की तरफ ध्यान देता है। जहाँ भी मैं कुरान खोलती हूँ यह संदेश बार–बार आता ही है – पुराने ग्रंथों का आदर करो।

इसी महान् विचार का मैं उल्लेख कर रही थी। कबाइली दुरभिमान कभी भी 'सत्य' नहीं बन सकता। जब मैंने कुरान का बारीकी से अध्ययन किया तब ज्ञात हुआ कि मुसलमानों को 'सारे यहूदियों' से दूर रहने को नहीं कहा गया, बल्कि उन यहूदियों से जो इस्लाम को मूलतः झूठ कह कर उसका उपहास करते हैं, इसके साथ ही मुसलमानों को यहूदियों के न्याययुक्त होने में संदेह नहीं करना चाहिए, नहीं तो वह अपने ही ईमान को झुठला देंगे।

पर अब अगर यहूदी और इस्लामी मजहब एक ही ईमान है, तो उन्हें अलग–अलग क्यों रखते हैं? वैसे ही ईसाई मजहब की क्या जरूरत है? या फिर हिन्दू, बौद्ध, सिख वगैरह भी क्यों चाहिए? यह अलग–अलग पवित्र ग्रंथों में जो खींचातानी चलती है, उसे छोड़कर सभी को एक ही ईश्वर की देन क्यों नहीं मानते ? अब कुरान इस गंभीर प्रश्न को टालता नहीं है। कहा है ''अलग–अलग मजहब रहने चाहिए, ताकि आदमी को 'अच्छे कर्म' करने का प्रोत्साहन मिलेगा। यह भी मानते हैं कि ''कौन ईश्वर की इच्छा का सही पालन कर रहा है–इस झगड़े से कुछ भी अच्छा नहीं निकलता है। पर इनका निवारण तभी होगा जब सब लोग 'उसके' पास वापस जाएंगे।'' तब तक हमारे लिए यही आदेश है कि अच्छे कर्म किए जाओ। लगता है अलग–अलग विचारों से हमें एक दूसरे को जानकर आगे बढ़ना है–न कि अपने–अपने अलग कोने में घुसकर बैठे रहें।

विचार तो अच्छे हैं–यही तो मैं भी चाहती हूँ। पर अब 'व्याख्या' या मतलब निकालने वाली बात आ जाती है। क्योंकि कुरान यह भी कहता है कि ''यहूदी या ईसाइयों को अपना दोस्त न बनाओ ताकि हम वैसे ही न बन जाएं। ''उन लोगों'' की ऐसी व्याख्या की गई है कि वे ''न्यायहीन या बेईमान'' हैं। गैर–मुसलमानों को मारने, कत्ल करने और एक खास 'कर' (टैक्स) देने की भी हिदायत है। इन आदेशों का सहारा लेकर कई मुसलमान तो दूसरे मजहबों से संपर्क रखने पर थूँकते हैं। उनके लिए यही सही है कि 'वे' लोग जिंदा तो रहें पर कभी भी बराबरी नहीं हो सकती। बराबरी तो दूर, नजदीकी भी नहीं हो सकती, क्योंकि इस्लाम बाकी मजहबों जैसा और एक मजहब नहीं है, वह सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि उसके लिए एक ''पूर्ण सत्य'' शब्द है और उस एक ईश्वर का आखरी रसूल प्रेषित भी है। यह भी कुरान पढ़ने का दूसरा तरीका है। हमें मालूम ही नहीं पड़ता कि हम उसे चुन रहे हैं।

अब आप कहेंगे – ''रुक जाओ। मैं अपने पड़ोसी को उसके यहूदी त्यौहार मनाने पर मारना नहीं चाहता। मुझे बाकी 'यहूदी द्वेषी' लोगों के साथ न गिनो। मैं तो एक अच्छा इन्सान हूँ।'' हाँ, आप जरूर अच्छे इन्सान हैं। इसी अच्छाई में अब अपने आपसे पूछिए, क्या मैं उस इस्लामी मत का विरोध करता हूँ जो कहता है कि वह यहूदियों या ईसाई मजहब को मात देता है? हम अपने ही अभिमान में इतना डूबे हैं कि तकरीबन सारे ही मुसलमान इसी विचार को बिना सोचे समझे मानते हैं–विचार भी कभी करते हैं, तो केवल 'अतिरेकी' बोलकर फिर डूब जाते हैं। और कई बार इतना भी नहीं करते।

क्या आपको यह लगता है कि बात को बढ़ा चढ़ा कर कहा जा रहा है ? एक किस्सा सुनिए! 11 सितम्बर 2001 के हादसे के कुछ हफ्ते पहले एक चर्चा हो रही थी –''इस्लामी दुनिया का चित्रण''। मेरे सभी साथियों ने जमकर पश्चिमी संस्कृति पर टीका की। हॉलीवुड में सारे कट्टरवादी कैसे काले क्रूर दिखाए जाते हैं, इत्यादि, सभी हमेशा की बातें दुहराई गई। मेरी बारी आने पर मैंने इतना ही कहा–हम मुसलमान दूसरे लोगों को कुछ ऐसे कारण देते ही नहीं हैं, जिससे वे हमारे अच्छे चेहरे देख सकें। मैंने पूछा – जब तालिबान ने अफगानिस्तान में बामियां के बुद्धमूर्तियों को तोपों से उड़ा दिया था तब कहाँ थे ये टोरोन्टो या वैंकूवर के मुसलमान ? कुरान में कहा है ''मजहब में जबरदस्ती नहीं होती''। अब तालिबान तो यह सुर नहीं अलापेगा पर हम पश्चिम के मुसलमान क्यों नहीं बोले ? क्यों चुप रहे ? हमारे शहरों में, सड़कों पर–मुस्लिम प्रतिक्रिया क्यों नहीं हुई ? और इंतज़ार किया कुछ आगे बात होगी।

मेरे बोल लेने के बाद एक महिला बोल पड़ी ''मांजी तुम जानती हो कि फिलिस्तीनी मुसलमानों पर क्या बीत रही है ?'' अरे– क्या बात हो रही है। इस्लामी एक–छत्रवाद और मध्यपूर्व के कड़े रुख के राजनीति में तो संबंध हैं पर यहाँ तो अतिरेकी, औरतों के द्वेषी, मजहब को सर्वोपरि मानने वाले तालिबान की बात हो रही है, (जिन्होंने बुद्धमूर्ति को तोप से उड़ा दिया) यहाँ फिलिस्तीन कहां से आ टपका ?

अरे यह क्या बात हुई ? कोई तो मुझे ऐसी जगह ले चले जहाँ न्याय और अंधे समर्थन में फर्क किया जाता हो। मैं यह तो मान सकती हूँ कि उभरते इस्लामी एक–छत्रवाद (Totalitarianism) और मध्यपूर्व की कड़े रुख वाली राजनीति में संबंध ज़रूर है। पर इस संबंध का उस तालिबान से क्या रिश्ता है, जिन्होंने अपनी किताब को सर्वोपरि मानकर बुद्ध प्रतिमाओं को उड़ा दिया, औरतों को चूरचूर कर दिया, पतंगबाजी भी मना कर दी और हत्याएं हो रही हैं फिर भी इसी तालिबान पर मुसलमान चुप्पी साधे हुए है।

पर इन बातों का वैसा सोचने वालों पर कोई असर नहीं। उन लोगों ने बिना सोचे समझे मानों इस्लाम का एक बुर्का पहन रखा था–सिर से पांव तक। अगर कुछ **सोचने वालों** का यह रवैया है तो सोचकर भी डर लगता है कि आगे क्या होगा।

सभी लोग 11 सितम्बर पर ही केन्द्रित होते हैं। मैं उसके बाद के दिनों पर ध्यान दिलाना चाहती हूँ। उस समय हम मुसलमानों ने इस्लाम के बारे में प्रचार–माध्यमों को या राजनीतिज्ञों को क्या आश्वासन दिये था ? चेहरे लटका कर यही कहा था कि हमारे विश्वास को ''हाइजैक'' (अपहरण) किया गया था। अमेरिका, जर्मनी, आस्ट्रेलिया, कनाडा सभी को कहा ''हम भी अपने स्वातंत्र्य में विश्वास करते हैं, हमारी भी हानि हुई है, हम सब आपके साथ हैं। आपके साथ हमारा भी अपहरण हुआ है।'' मैं तो इस शब्द को बिल्कुल पसंद नहीं करती। उसका तो यह अर्थ हुआ कि अगर 11 सितम्बर न हुआ होता, तो कुरानिस्तान हवाई सेवा के सारे प्रवासी सुखपूर्वक अपने सुंदर गंतव्य पर पहुँच जाते। हाइजैक हो गए। वाह–वाह जैसे हमारा मज़हब एक निर्दोष दर्शक ही था जब मुसलमानों ने हिंसा के काम किए। वाह रे ! हाईजैक–इससे तो मुख्यधारा के सभी मुसलमानों को अपने दोषों का विवेचन करने से मुक्ति मिल गई। सबसे पहले तो यही ज़रूरी है कि हम कुरान के वे मलिन निर्देश जो आतंकवाद के विषय में हैं, उन्हें देखें।

सितम्बर 11 के बाद कई जगह मैंने यही तोता रटन्त मुसलमानों से सुना, ''कुरान बिल्कुल साफ कहता है कब जिहाद किया जा सकता है और कब नहीं और इन आतंकवादियों ने वह असूल ज़रूर तोड़ा है।'' एक विद्वान् ने यह भी कहा, ''यह साफ लिखा है कि एक निर्दोष व्यक्ति को मारना पूरी मानवजाति को मारने के समान है।'' इन्हीं बातों को मैं निर्बलता का प्रतीक मानती हूँ। साफ लिखा गया है, वह वास्तव में ऐसा है **''हमने इस्राइलियों के लिए यह निश्चित किया है कि जो भी किसी मानव को मारेगा वह ऐसे ही समझा जाएगा कि पूरी मानव जाति का हत्या हुई है, इसमें अपवाद केवल देश में हत्या या किसी नीच कर्म के लिए दी गई सज़ा ही होगी।''**

और यही **'अपवाद'** है जिसे सारे उग्रवादी मुसलमान अपने जिहाद का सहारा बनाते हैं। उदाहरण के लिए, ओसामा बिन लादेन ने 1990 के दशक के अंत में पूरे अमेरिका के खिलाफ 'जिहाद' घोषित किया था। उसमें उसे कुरान का सहारा मिला। वह **अपवाद** फिर से पढ़िए। **''सिवाय इसके कि हत्या या दुष्कर्म की सज़ा देनी हो।''** संयुक्त राष्ट्र के आदेश पर और अमरीका के बार–बार कहने पर इराक पर लगाए गए प्रतिबंधों की वजह से लाखों बच्चे मारे गए। उनकी क्या हत्या हुई ? आसोमा बिन लादेन तो यही मानते हैं। जब अमेरिका के सारे ही नागरिकों से लिए गए करों से इस्राएल की मदद की जाती है या टैंक खरीदकर फिलिस्तीन को रौंदा जाता है, वह भी हत्या या दुष्कर्म की व्याख्या में बिठाया जा सकता है ? इस पर बिन लादेन ने 1997 में सीएनएन को कहा था, ''अमेरिकी सरकार ने ऐसे भयंकर अन्याय और दुष्कर्म किए हैं जिनसे इस्राईल को फिलीस्तीन को हथियाने में मदद मिली है। यहूदियों के सामने झुककर अमेरिकी उद्दंडता बढ़ रही है, तभी उन्होंने मुसलमानों के पवित्र स्थान 'अरब' पर उतरकर कब्जा किया है। यह, और ऐसे ही अनेक आक्रमण और अन्याय किए हैं, इसी वजह से हमने अमरीका के खिलाफ 'जिहाद' छेड़ दिया है।''

मैं और आप तो सहमत होंगे कि नैतिकता के आधार पर ऐसा सोचना दकियानूसीपन है। पर क्या यह सच है कि उसे (ओसामा बिन लादेन) या उसके भाड़े के सिपाहियों को कुरान भी सहारा देता है ? बस सच्चाई से जवाब दीजिए।

कुछ कहा आपने ? ''मुझे कुरान के इन वाक्यों का 'संदर्भ' समझना चाहिए जिनमें हिंसक विचार हैं ?'' अब यह भी कह दूँ कि मैंने पूरी तरह से उन विद्वानों को पढ़ा है जो संदर्भ की बात करते हैं और यही समझा है कि एक लुकाछिपी का खेल चल रहा है। इसके पीछे कुछ षड्यंत्र तो नहीं चल रहा लगता है – पर एक ही मूलभूत विचार है – **''कुरान पूर्णतः निर्दोष है इसीलिए अगर वह द्वेषभाव को भी बढ़ावा देता है तो इसकी कोई वजह ज़रूर मिलेगी।**

एक उच्च कोटि के विचारक के अनुसार 'विशुद्ध' इस्लाम एक शांतिवादी मज़हब है। इसने यह कहा है कि अल्लाह ने रसूल मुहम्मद को अच्छी–बुरी दोनों स्थितियों में उपदेश दिया है और कुरान की जो 'खराब' या 'दूषित' आयते हैं वे मुहम्मद के कुछ खराब समय को दर्शाती हैं – जब वह 25 साल तक इस्लाम को फैला रहे थे। मुहम्मद पहले मक्का में अपने मतान्तरण के प्रयास कर रहे थे। उनके 'दया' के संदेश से वहाँ के गुलाम, विधवाएं, लावारिस या गरीब मज़दूरों पर प्रभाव पड़ा क्योंकि उस समय के हालातों में इन्हीं लोगों को दया की ज़रूरत थी। **उस वक्त के कुरान के दैवी संदेश पूरी तरह भूतदया से परिपूर्ण हैं।** पर कुछ ही दिनों में मक्का के व्यापारी समुदाय धमकी महसूस करने लगे – साथ ही धमकाने भी लगे। मुहम्मद और उनके साथी अपना बोरियाबिस्तार उठाकर अपने बचाव के लिए मदीना चले गए। **इसी समय कुरान के दया के संदेश बदले की भावना से भर गए।** मदीने के कई रहिवासियों ने आने वाले मुसलमानों का स्वागत किया था परंतु कई उनके खिलाफ भी थे। इनमें ही मदीने के मुख्य यहूदी थे जिन्होंने मुहम्मद को कत्ल करने और इस्लामी मत वाले लोगों को परिवर्तित करने का इरादा बनाया। वे इसलिए नाकाम हो गए कि ''अल्लाह ने मुहम्मद को उन्हें रोकने के लिए हमला करने को कहा''। कहा जाता है कि कुरान में जो ज्वलंत मुद्दे हैं–यहीं से शुरू हुए हैं। यह भी कहा जाता है कि यह काम मुसलमानों ने बदले के लिए

नहीं परंतु अपने बचाव में किया और वह भी थोड़ी देर तक, यद्यपि मुहम्मद का असली इरादा तो वही रहा यानी–दया, न्याय, बराबरी, एकता और शांति।''

कितने सुखद विचार हैं। ऐसी बातों में विश्वास रखना कितना प्रिय लगता है। पर जितना पढ़ती गई और सोचती गई, यह बिल्कुल गले के नीचे नहीं उतरा। एक दिक्कत तो यह है कि कुरान में पहले पहले बड़ी–बड़ी और फिर छोटी–छोटी आयतें दी गई हैं। वे कब उजागर हुई इसका कोई ख्याल नहीं रखा है। पहले के कौन से संदेश हैं जो दयापूर्ण हैं और उन्हें कैसे हम 'असली' विचार बताएं ? **हमें यह बात माननी ही पड़ती है कि कुरान के संदेश एक 'रक्तरंजित नक्शा' है जो सब तरफ दिखता है। दयाभाव और तिरस्कार साथ–साथ कैसे रह सकते हैं ? औरतों का विषय ही लीजिए – कुछ अच्छे विचार और फिर भयानक विचार साथ–साथ ही मिलते हैं। मजहब की विविधता के भी यही हाल हैं।** इन कथित विचारों से परे, सरल एवं निर्दोष किताब में कोई भी एक **दिशा नहीं है। उसका परिपूर्ण होना ही संदेहास्पद है।**

हाय–हाय! मैंने कहीं सीमा तो पार नहीं की ? पर यह तो कुछ भी नहीं। अल–कायदा के भयानक सीमापार कार्य देखिए। ये लोग तो खून–खराबे पर उतर आए हैं। अगर हमें उनके घुटन वाले आतंक का प्रतिकार करना है तो हम यह पूछने से नहीं डर सकते कि अगर कुरान परिपूर्ण नहीं तो क्या होगा ? अगर वह पूरा ईश्वर का संदेश न हो तो ? और वह आदमियों के प्रति ही भेदभाव से भरा हो तो ?

इस 'शायद' को ही देख लीजिए। मुहम्मद अत्ता (11 सितम्बर के आत्मघाती नेता) ने एक चिट्ठी छोड़ी है जिसमें वह अपने गुट की तरफ से कहता है ''हमारे लिए यही काफी है कि यह (कुरान की आयतें) दुनिया और पूरा संसार बनाने वाले के बोल हैं।'' तीन बार वह इस बात का हवाला देता है कि 'जो चीज़ें ईश्वर ने सारे शहीदों को देने का वायदा किया है जैसे जन्नत में सारी सुंदरियां तुम्हारा इन्तज़ार कर रही हैं और पुकार रही हैं आओ, ईश्वर के मित्रों आओ'।

इन गूढ़ बातों को आपके लिए 'प्रकट' कर दूँ ? अत्ता और उसके साथियों को यकीन था कि उन्हें जन्नत में अनेक कुमारियों का सुख मिलेगा। उसके पहले भी एक फिलिस्तीनी 'हमास' के मदरसे ने 'सीबीएस' टेलीविज़न को कहा कि यह ''सत्तर हूरें'' वाला वायदा सभी नए आतंकियों को सुनाना है। यानि बम फौजें और उसके लिए कुरान के वादे के अनुसार अपने 'इनाम' की प्रतीक्षा करो।

एक छोटी–सी गलती हो गई है। जिस 'हूर' शब्द का अर्थ यह निकाला जाता रहा है कि वह काली आंखों वाली कुमारी – नहीं है – पर शायद सफेद बेदानों के लिए कहा है। शायद उस वक्त वही बहुत बढ़िया और महंगे इनाम होते। यह कैसे हो सकता है इस पूर्ण रूप किताब के साथ? यह कल्पना शायद पुराने ईसाई ग्रंथों से लेते समय गलत पढ़ा गया था ? पता नहीं ऐसी और कितनी गलतियां हो सकती हैं ?

यह समझना भी ज़रूरी है कि रसूल मुहम्मद केवल एक अनपढ़ व्यापारी थे। वह अपने 'दैवी संदेश' एक लिपिक को बताते थे। कभी–कभी तो खुद मुहम्मद को उसने क्या सुना इसका अर्थ निकालने में बहुत कष्ट होता था। तभी कुछ 'शैतानी पद्य' जिनमें मूर्तिपूजा का समर्थन था वे भी मुहम्मद की अनुमति से कुरान में 'सही' पद्य कहकर शामिल हो गए। **रसूल ने बाद में उन्हें बाहर निकाल दिया था परंतु कई शताब्दियों से मुस्लिम विचारकों की बातचीत के बाद वही पुराने शक उभरते हैं – क्या कुरान सच में परिपूर्ण–निर्दोष है ?**

अगर आतंकवादी अत्ता को इन बातों की ज़रा भी भनक होती तो क्या ? फिर तो ये ''संसार के रचयिता के शब्द'' नहीं रटते।

इस सुधार के प्रश्न का अहम हिस्सा है कुरान पर सवाल उठाना, क्योंकि यही हमें उस भेड़चाल से अलग कर देता है। इसी का मतलब है कि जो भी जवाब आपको दिए जाते हैं उन्हें हम मंजूर न करें–शायद यह भी कि ऐसे जवाब हमें 'दिए' जाएंगे।

11 सितम्बर के हादसे के बाद से एक सवाल मुझे परेशान करता रहा। जब कुरान में लिखा है कि अपनी इच्छा के अनुसार काम कर सकते हैं तो ये इस्लाम के हुक्मरान क्यों इतने संकुचित विचार रखते हैं ? उनमें से और लोग 'मुक्त' वातावरण क्यों नहीं पैदा करते ? इसके जवाब में मुझे कुरान के भी परे जाना था। ये मुस्लिम दुराग्रहवादी विचार कहाँ से पैदा हुए–यही देखना था और इसके लिए मुझे और एक पर्दा उठाना पड़ेगा–उन झूठी बातों पर से जो हम दुहराते हैं।

अध्याय–3

हमने सोचना कब बन्द किया

नवंबर 2001 तक टी वी पर बार–बार आने वाली वर्ल्ड ट्रेड सेंटर के हादसे में मरे हुए लोगों की तस्वीरें देखते–देखते हमें दो महीने हो गए थे। जनता का सुन्न दिमाग कुछ खुल रहा था। एक सवाल था जो अब टाला नही जा सकता था–इस हमले में इस्लाम का क्या रोल था?

जैसे ही यह हादसा हुआ था अमरीकी इस्लामी संस्थाओं ने अखबारों में लगातार पत्रों की झडी लगा दी थी–उनके नेताओं के संदे ा भी हर पत्र में छप रहे थे। सभी का यही कहना था–आपका गुस्सा मुसलमानों पर ना उतारें–क्योंकि हम लोगों में ज्यादातर ''अच्छे लोग'' हैं! युरोप के कई संगठन भी यही राग अलाप रहे थे। सबकी भाशा एक ही थी–''अरे बीबीसी वालों, रॉयटर्स वालों, और फॉक्स वालों–हम तो मान रहे हैं कि इस्लाम में कुछ टेढ़ा तो है, अब और क्या चाहिये? हम उग्रवादियों की निंदा भी कर रहे हैं, आप हमारा नाम छाप सकते हैं, हम कहीं भाग तो नही रहे हैं! अब यह न कहना कि हम कुछ छिपा रहे हैं या बचाव कर रहे हैं।

अच्छा, तो अब मैं ही आरोप लगाती हूँ कि हम कुछ छिपा रहे, बचाव कर रहे हैं। हमने इस्लाम के ऊपरी–ऊपरी बीमारियों की तो निन्दा कर दी पर हमें भाक्तिहीन कर देने वाली पूरे इस्लाम मजहब की उस बड़ी बीमारी को तो जानबूझ कर छिपा दिया–जिसका नाम है 'इस्लाम की विचारधारा' जिसे आप हाथ भी नही लगा सकते। वह 'Untouchable' है!

मैंने 11 सितंबर के बारे में कई लेख छापे–जिनमें अपने ही मानस का अंतरावलोकन करने का आहवान था। वर्ल्ड ट्रेड सेंटर के जिन दो मीनारों को नही गिराना चाहिये था वह तो बरबाद हो गए–और इस्लाम के वह दो मीनार जिन्हे गिराने की ज़रूरत थी वह तो इस्लाम को बिना देखे सहारा देते ही रहे–वह मीनार थे'' **एक – छल या फरेब और दूसरा – अहंकार या घमंड''**। मैंने यह भी बताने का प्रयास किया कि छल से मतलब है इस्लाम का आज के मसलों को न पहचानने से इन्कार करना और सिर्फ एक कल्पना के वि व में जीना! हम सबको केवल यही कहे जा रहे थे कि ''हम सभी आतंकवादी नही हैं'', और उसी में 'जिहाद' के एक खास हिस्से से वंचित रह गए–खुद की आलोचना या अपना ही गुणदोशविवेचन। बस करो यह बचकाना अपने ही साथियों के दबाव के आगे झुकना। छोड़ दो यह विचार के दुनिया हमारे विचारों का आदर करे पर हम उनके विचारों का कोई भी आदर ना करें!

मुसलमानों को मैंने ललकारा था – जो आह्वान दिया था – वह सारां ा में था :–

''क्या हमें हम पर लादे गए उन बंधनों का पालन करना चाहिए जो एक बचकानी विचारधारा में बांधकर केवल चुप रहना ही सिखाते हैं। या पूरी तरह से इस दे□ा के नागरिक बने जिससे हम उसी 'अनेकता' का संरक्षण कर सकते हैं जिसने हमें यहाँ इस्लाम का पालन करने दिया।''

कई लोगों ने जबाव दिये। गैर मुस्लिम चाहते थे कि और खुलकर बातें हों। कई मुस्लिमों का भी यही विचार था। लेकिन ज्यादातर मुसलमानों को यह विचार पसंद नही था। कईयों ने मुझे पागल करार दिया और यह भी कहा कि 'ये तो मदरसे में भी नालायक रही – यह तो एक घायल यानी traumatized है'। हाँ, ट्रॉमा की ही बात करनी है तो उन्हें 11 सितम्बर का वह भयानक हादसा याद ही नही था–चाहे वह कुछ ही 'ईमानदार' मुस्लिमों ने किया हुआ हो। हमारे ईमानदार धर्म का उस हादसे में क्या हाथ था, उस के बारे में कोई सोचने को तैयार ही नही था। कईयों ने तो मुझपर यह आरोप भी लगाया कि मुझे इस्लाम की मुख्य धारा ने दुतकार दिया था इसीलिये मैं यह सब हमलें कर रही हूँ। जी हाँ, मुझे दुत्कारा गया है, और उसके लिये मुझे कोई भी भार्मिन्दगी नही है। मैं तो चाहती ही नही कि मैं उस धारा का हिस्सा बनूं जिसकी विचारधारा इतनी संकुचित और अनैतिक भी है।

मैंने हर पत्र का जवाब तो नही दिया–पर बस एक पत्रकार ने मुझे चुप होकर सोचने पर मजबूर कर दिया। मैंने इस्लाम की जो 'भयानक' तस्वीर खिंची थी उसी से दुःखी होकर उस मुसलमान ने मुझे कुछ अच्छी सीख दी। उसने मुझे पूछा **''क्या आप 'इज्तिहाद' के बारे में कुछ जानती हैं? जिहाद नही, 'इज्तिहाद' जो एक आज़ाद और तर्कपूर्ण विचार पद्धति है जो हर आदमी या औरत को अधिकार देता है कि वह मौजूदा हालात के मुताबिक सुधार कर सकता है।**

'इज्तिहाद'–क्या यह इस्लाम के भीतर कोई पद्धति है? और वह भी स्वतंत्र विचारों की छूट देनेवाली?

जब कुछ सोचा तब थोड़ा सा याद आया कि यह भाब्द मेरे मदरसे कि पढ़ाई के दिनों में सुना था, पर उस पर कभी बातें नही हुई, कुछ ऐसे पे ा किया गया था कि जैसे यह इस्लाम का कोई सूखा हिस्सा हो–कोई क्रांतिकारी

विचार नहीं! और फिर मेरे मन मे यह भी प्रभाव था कि कुरान का वि लेशण का अधिकार तो सिर्फ धर्म के 'अधिकारी'–मुल्ला मौलवी–के पास ही था। फिर मुझे इस्लाम के बारे में यह पूछने का भी दुस्साहस हुआ–''यह अधिकारी गण हैं कौन? क्या कुरान ऐसे अधिकारी मानता है?'' जी नही! क्या यह बात सही नही कि कुरान के उल्टे सीधे भावों का मतलब निकालना केवल व्यक्तिगत या चुन–चुनकर ही संभव है? जी हाँ! तो इसका यह मतलब हुआ कि स्वतंत्र विचार करना–यानी इज्तिहाद–हम सबके लिये खुला है। यह अधिकार अपने ही कब्जे में करके यह 'अयातुल्ला' ही असली पाखण्डी हैं।

जैसे कि मेरी आदत है, मैंने गहरा अध्ययन, इंटरनेट पर साम्रगी इकठ्ठा करना और विद्वानों से विचारविम र्ा चालू कर दिया। यही खोज थी कि यह इज्तिहाद की विचारधारा किसने बनाई और कहां इसे प्रयोग में लाया गया, वह समाज कैसा था इत्यादि। और मेरे भाोध का नतीजा यह था :

इस्लाम का 'स्वर्णिम युग' (सन् 750 से 1250) इसी प्र न पूछने वाली पद्धति से प्रकाि ात हुआ था। इराक जो कि इस्लामी साम्राज्य का केन्द्र था, उसी में ईसाई और मुसलमानों ने साथ–साथ काम करते हुए यूनानी फलसफा अनुवादित किया और उसका फिर उद्धार भी किया। एक लेखक ने इस विशय में कहा है 'मुसलमानों ने एक उदारमत वादी संस्कृति का गठन किया था'। इस तरह सारी संस्कृतियाँ एक होने से ही हमें एक 'वैि वक' संस्कृति मिली जिसके अंदर तकनीक, पैसा और सारी जनता एकत्रित हो गए। मुसलमानों और गैर मुसलमानों के बीच बड़े पैमाने पर व्यापार चलने लगा। इस्लामी साम्राज्य में व्यापार के साथ–साथ विचारों का भी आदान प्रदान जोर पकड़ता गया।

नई पद्धतियाँ और नए विचारों का इज्तिहाद से गहरा संबंध था। खुले मंचों में अनेक विशयों पर चर्चा होती थी, कुरान के अनेक वि लेशण भी किये जाते और आदमी–औरत के स्वाभाव एवं क्या निशिद्ध है या नही ऐसे विशयों पर भी चर्चाएं हो सकती थी! इन खुले मंचों के बाहुल्य और विविधता से इस समय ऐसे विकास हुआ कि हर विशय पर चर्चाएं होने लगी।

इसी समय साम्राज्य के मध्य बिन्दु बग़दाद में काफी हलचल थी। मुहम्मद के बाद यहाँ के खलीफा ही उनके वारिस बनकर उभरे थे, और वही 'मुसलमानों के धर्मरक्षक' भी थे। नवीं भाताब्दी में उनके एक नामी खलीफा 'अल्–मामून' ने एक 'ज्ञानभवन' भी बनवाया। कहते हैं कि इस्लाम में या पि चम में यह उच्च ि ाक्षा का पहला ही विद्यालय था। स्पेन का कार्दोबा भाहर भी पीछे रहने वाला नही था, वहाँ 70 पुस्तकालय बने! और अब 70 हूरों की बातें होती हैं! कितना बदल गया हैं ज़माना।

पर सोचने की बात तो यह है कि इन बातों से इस्लाम में यहूदी और ईसाईयों के प्रति खुलापन कैसे आ गया? इसके उत्तर के लिए कई पहलू देखने पड़ेंगे। सबसे पहले आता है tolerance या सहन ीलता और उदारमत्त। इसी के रहते इस्लामी साम्राज्य बना और पनपता रहा। पहले तो इस्लामी आक्रांताओं ने यह नियम बनाया कि अपनी करीबी कौमें यानी ईसाई और यहूदियों का ज़बरन धर्मपरिवर्तन नही कराना। इसी नियम से उन्हें ईसाई साम्राज्य पर विजय मिली। कैथोलिक ईसाई यहूदियों का हर वक्त दमन करते थे और उन्हें अपने रिवाज चलाने नही देते थे। इस्लामी साम्राज्य में ऐसा नही हुआ जिससे यहूदियों से उन्हें कई तरह से मदद मिलती गई। उन्होंने लड़ाई में भी मुसलमानों की सहायता की। स्पेन में इस्लाम की विजय यहूदियों से मिली ख़ुफिया खबरें ही थीं।

अरब आक्रांता तो लड़ाकू कौम थे, पर उन्होंने बहुत होि ायारी से विजित लोगों से ही चुनकर काबिल लोगों को राज्य चलाने के लिए नियुक्त किया। साम्राज्य के विविध प्रकार के लोगों को समझने के लिए उन्ही में से चुनकर अधिकारी लगाए गए। इस वक्त यहूदी ही सबसे लायक साबित हुए, चाहे राज्य चलाने में, चाहे जनसेवा या कोशाध्यक्ष या डॉक्टरी में।

मुझे बार–बार यह लगता है कि बग़दाद को इस्लामी साम्राज्य की राजधानी बनाने में यहूदियों का बड़ा हाथ था। विस्थापित यहूदियों ने ईसवी 70 में विख्यात ''तालमुदिक ि ाक्षा केन्द्र'' प्रस्थापित किया था। नतीजतन जब मुसलमानों ने बग़दाद पर कब्जा किया तो यहाँ पढ़े लिखे उच्च कोटि के यहूदी मौजूद थे जिन्हें एक 'ब्रेन्स ट्रस्ट' की तरह उपयोग में लाया गया। अच्छे पदों पर रहते हुए उन्हें बाहर के यहूदियों को भी प्रि ाक्षित करने में सुविधा हुई। याद रहे कि करीबन 90 प्रति ात यहूदी मुसलमानी साम्राज्य में ही रहते थे। इस प्रचार के करते वह अपने धर्म ग्रन्थों को यहूदी जीवन का आधार बनाने में सफल हुए।

कितना अच्छा संयोजन था! एक दूसरे के विचारधारा से आदान प्रदान से दोनों संस्कृतियाँ आगे बढ़ने को उत्फूर्त हो गई। दुर्भाग्यव ा यह ज्यादा देर चलनेवाला नही था। 11वीं भाताब्दी के बाद स्पेन के भाासकों के निरतंर जुल्मों से सारी सहन ीलता खत्म हो गई। उस समय के मुसलमान विद्वान इब्न र द का नाम विख्यात है। उसने कहा था

''कुरान के रूपकों का सही अर्थ तो केवल तत्त्वज्ञानी ही समझ सकते हैं, क्योंकि वही तर्क ाास्त्र जानते हैं। धर्म में ऐसा कोई विधान नही है कि कुरान का वि लेशण भाब्द ाः ही होना चाहिए।'' औरतों के बारे में र द कहते हैं ''उनकी क्षमता हम जानते ही नही हैं; केवल बच्चे पैदा करना, उन्हें पालना और दूध पिलाना यही सीमा बनी है। उन्हें आदमी पर बोझ समझना यही हमारे गरीबी का कारण है''। लेकिन ऐसे साहसी विचारों के कारण ही र द मुसलमान सत्ताधारियों के लिए ही बोझ बन गए! उन्हें निश्कासित करके मोरोक्को भेज दिया गया और कुछ ही दिनों में उनकी सं ायास्पद हालात में मौत हो गई।

इन सब बातों को पढ़ते–पढ़ते मैं हैरान थी कि यह **सब क्यों हुआ? उदारमत वाले स्पेन का कट्टरपंथी स्पेन कैसे बना? बाकी मुसलमानों ने सोचना कब बंद कर दिया? इस्लाम के स्वर्णयुग का अंत कैसे हुआ? और इन सब बातों से हम क्या सीख सकते हैं? आइए देखते हैं।**

सबसे पहले तो यह हुआ कि मुस्लिम स्पेन को इस्लाम के 'धार्मिक' लोगों ने ही अंधा कर दिया था। कास्टील के ईसाई राजा अल्फान्सो के आक्रमण से बचने के लिए सेविल (स्पेन) के गर्वनर ने मोरोक्को के कट्टरपंथी मुसलमानों को बुला लिया। उन्होंने आकर अल्फान्सो से तो बचा लिया, लेकिन उसके बाद उन्होंने इस्लामिक आध्यात्मिक विचारों को ' ाुद्ध' रखने की मुहीम भाुरू कर दी! ये लोग स्पेन के 'उदारमत वादी' विचारों का अत्यन्त द्वेश करते थे और उसे इस्लाम पर एक धब्बा समझते थे। वह यहूदियों का तिरस्कार करते थे, औरतों को घृणा से देखते थे और वादविवाद को त्याज्य समझते और अतिरेकी पाखंडवाद को ही मानते थे। उन्होंने केवल र द को ही नही बल्कि जाने माने विद्वान 'गज़ाली' को भी नि ाना बना दिया। हालाँकि ग़ज़ाली ने मुसलमान उदारमत वालों को 'बेलगाम' की उपाधि दी थी। उसे निंदित करके उसकी रचनाएं सरे आम जला दी। सूफियों का भी दमन कर दिया क्योंकि वह कुरान का 'असली' मतलब निकालने की चेश्टा कर रहे थे।

पर इन बातों से मैंने क्या सीखा? यही कि स्पेन ईसाईयों की वजह से नही टूटा–उसे तोड़ने वाले मुसलमान ही थे! हाँ, कुछ टुकड़े ईसाईयों ने जरूर बटोर लिये। ज़ाहिर है कि युरोप के नए दे ाों में बस्तियाँ बनाने की नीति से पहले ही मुसलमानों ने फौजी कानून लगाकर उदारमत या स्वतंत्र विचार करने वाले पर डंडे बरसा कर अंकु ा लगाया था। मुसलमानों के मसलें 'कूसेड' (crusade) से नही पैदा हुए; वह तो हमारे ही वजह से हुए! आज तक हम 'गोरे' लोगों को सिर्फ दि ाामूल के लिए इस्तेमाल करते आएं हैं। यह बात भूल गए कि पि चम से दबाव की कोई जरूरत ही नही थी हमें तो हर वक्त अपनों ने ही दबाया है। इस बात को समझने के लिए फिर बग़दाद चलें।

नववीं भाताब्दी के ख़लीफा अल मामून का जिक्र तो कर ही चुके हैं। उसने इस्लाम को एक ऐसे रूप को पनपने दिया जिसमें सुसंगत विचारों को बढ़ावा दिया जाता था और कुरान के दैवी मूल्य होने की कल्पना को सहारा नही मिलता था। वह सबसे पहले यही चाहता था कि हर इन्सान को अपनी बुद्धि के स्वतंत्र अस्तित्व का एहसास हो। पर इसका भी अतिरेक हो गया! उस ने यह हुक्म दिया कि जो भी अधिकारी मेरे–मामून–के विचारों से सहमत ना हों उन्हें सज़ा दी जाए! कईयों को कोड़े मारे गए तो कईयों को कैद मिली, एक की गर्दन भी उतारी गई। अब मामून की इन ज्यादतियों के लिए किसे दोश देंगे? रोमन चर्च या यहूदी या और कोई? कौन बचा है?

ऐसे कई दिन गुजर गए। तीस साल बाद इन उदार विचारों को नए खलीफा ने पूरा ही उलट दिया। पूरे साम्राज्य के लिए हुक्म हुआ कि कुरान में जो भी कहा गया है उसे बिना किसी सवाल के माना जाएगा। ''जिसका मतलब था कि 'हमें कोई विचार करना ही नही है, कि ऐसा कानून क्यों बनाया गया, क्योंकि हम अल्लाह के विचारों को समझने के लिए असमर्थ हैं, नालायक हैं। 'वह' तो गूढ़ और उपमा के भी परे है। हमारा काम तो केवल आदे ा का पालन करना है।'

अब हर इन्सान ने तो इस नियम का पालन नही किया। र द तो एक उदाहरण है, उसके पहले भी कई सहमत नही थे, जिन्होंने इसका पालन नही किया। अब देखें तो लगता है यह 'मत पूछो' वाला नियम काफी सफल हो गया है। कारण यह था कि राजकीय धारा इसी आदे ा के पक्ष में थी। कुछ छोटे हिस्सों में तो स्वतंत्र विचार होते रहे पर 'इज्तिहाद' के विचारधारा को जानबूझ कर समाप्त ही कर दिया गया। अब आप पूछ सकते हैं–क्यों? तो इसके जवाब के लिए हमें थोड़ा सा इतिहास देखना पड़ेगा।

मुहम्मद साहब के मृत्यु के बाद इसवी 632 में मुसलमानों में आपसी झगड़े भाुरू हो गए। कुछ ने दावा किया कि उनके दामाद और भाई 'अली' उनका उत्तराधिकारी होना चाहिए तो कई और मुसलमानों ने कहा कि यह अधिकार मुहम्मद के पुराने साथी बुजुर्ग अबू बकर का होना चाहिए। बस खूनखराबा भाुरू हुआ और यहीं से **इस्लाम में अली के समर्थक 'ि◌ाया' और अबू के समर्थक 'सुन्नी' या परंपरा के समर्थक यह दो पाट बन गए।** 275 तक तो यह

भेद कुछ दबे रहे पर 909 इसवीं में विवाद भडक उठा जब ि ायाओं के एक गुट ने सुन्नी साम्राज्य के भीतर ही अपना अलग राज्य घोशित किया। इससे उत्तेजित मुस्लिम स्पेन के राज्यकर्ता ने भी अपने आप को 'ईमानवालों का संरक्षक' यानी खलीफा घोशित कर दिया। –इसी घोशणा से बगदाद के सत्ताधारी उनके खिलाफ हो गए।

कुछ ही सालों में बगदाद और भी प्रथाओं के खिलाफ हो गया। पहला था 'इज्तिहाद' या स्वतंत्र सोच जो विचारों से नश्ट हो गया। दुनिया भर के मुसलमान दे ाों को आपसी फूट यानी 'फितना' से बचाने के लिए अब बगदाद के 'विद्वान' एकत्रित हो गए और उन्होंने फैसला कर दिया कि इस्लाम की विचारधारा के अंदर कोई भी चर्चा या वि लेशण नही होगा। ये सारे 'विद्वान' सरकारी भत्ता खाते थे और स्वतंत्रता का राग अपनाकर उसे खोना नही चाहते थे। इन नाममात्र पंडितों का मत था कि 'जितनी जानकारी मुसलमानों को चाहिए वह तो है ही और कोई नया सवाल हो तो उसका जवाब सुन्नी विचारों में मिल ही जाना चाहिए। अगर कोई नई बात हो तो जैसे पहले होता आया है वैसे ही किया जाना चाहिए'।

इसी एक हजार साल की कपटी रचना कौ ाल्य की वजह से भाायद इस्लामी साम्राज्य बच गया हो पर आज बीसवीं सदी में भी हम लोग इस कपट के नतीजे भुगत रहे हैं। अब मैं आप को एक सनसनी खबर देना चाहती हूँ कि इस्लामी साम्राज्य तो बचा ही नही। नश्ट हो गया। हम जैसे तैसे जी रहे है। 'इज्तिहाद' के दरवाज़े तो बंद है ही, साथ साथ हमारे दिमाग़ के दरवाज़े भी बंद हो गए हैं। मुसलमानों ने जिस इरादे से सोचना बंद किया था कि इराक से लेकर स्पेन तक इस्लामी साम्राज्य कायम रहे, वह तो अब पूरी तरह से एक फजूल सा मुद्दा बनकर रह गया है। अब थोड़ा सा सोचने का कश्ट करना ज़रूरी है दोस्तों – इस साम्राज्यवादी कपटनीति से केवल एक ही चीज़ पनपी है और वह है मुसलमानों की तरफ से ही मुसलमानों की पूरी ताक़त से लगाकर किया गया दमन और दूसरा खुले विचार या चर्चा पर लगी रोक।

अब ज़रा इसी विशय के ठोस बिंदुओं को देखें। जब 'इज्तिहाद' के दरवाज़े बन्द कर दिए गए तो 'सोचविचार' करना सिर्फ मुफ्तियों को ही हासिल रहा। वह तो हर भाहर में और दे ा में मौजूद थे ही। मुहम्मद अय्यूब कहते हैं ''मुफ्ती अपने कानूनी विचार या व्याख्या 'फतवों' के जरिए ज़ाहिर करते थे। ऐसे बहुत सारे फतवे इकठ्ठा करा के उन्हें कमज़ोर या नाकाबिल मुफ्तियों के लिए एक कुंजी की तरह प्रयोग में लाते थे''। अब यह बताइए कि यह कमज़ोरी या नाक़ाबिलियत क्या बला है। किससे कम क़ाबिल? आपसे? या मुझसे? अगर वह मुफ्ती कमजोर है तो उनकी जरूरत ही क्या है? यह नकल से नकल करके फतवे निकालने वाले लोगों की बजाए हमें खुद ही इस्लाम के दरवाज़े ख़टख़टाकर उसमें लगे ताले तोड़ देने चाहिए।

एक और मिसाल देखिए, कैसे हम फालतू चीज़ों की भक्ति करते हैं। वह है '' ारीयत कानून''। करीबन सारे मुसलमान मानते है कि यह पवित्र देन है – क्योंकि बार–बार यही कहा जाता है कि भारीयत ही इस्लाम का आधार है। एक सुधारक–झियाउद्दीन सरदार–कहते हैं, '' ारीया का बड़ा हिस्सा केवल पुराने न्यायविदों के कानूनी विचार है''। इसका मतलब है सिर्फ सुन्नी मत के चार भााखाओं के नेता। इन्हें बनाया तो गया था इस्लामी साम्राज्य के दिनों में, और तब से लेकर आज तक केवल उनका अनुकरण ही किया जाता रहा है। झियाउद्दीन कहते है '' ारीया जिस काल के संदर्भ में बना आज उसे लगाने से वह संदर्भहीन हो गया है। इसीलिये आज भारीया जब भी लगाया जाता है मुसलमान समाज में फिर एक मध्ययुगीन स्थिति आ जाती है, जैसा की सउदी अरब, ईरान, सुदान और तालिबानी अफगानिस्तान में देखने में आता हैं।''

चाहे भारीया ना भी लगाया जाए, फिर भी नकल तो चालू रहती ही है। कुछ साल पहले एक फिलिस्तीनी प्रोफेसर को दूसरी मंज़िल से फेंक दिया गया! क्यों? उसने पुराने इतिहास का सं ाोधन करने का अपराध किया था! क्या फिलिस्तीनी मुसलमान विचार ाक्ति की ऐसी अवहेलना करके खुद पनप सकेंगें? एक वेबसाइट देखते हुए मैंने एक किताब देखी जिसका नाम था ''कैदियों को खत्म करने पर विचार''! और इसमें कहा गया है कि कैदी–यानी काफिरों –को मार देना जायज़ है, बस ईमाम साहब को कोई एतराज़ न हो!

जब हम देखते हैं कि इस्लाम में केवल नकल करना ही सही माना जाता है तो जुल्म की नकल करने के बजाए हम अपनी आज़ादी या सहन ाीलता की नकल क्यूँ नही करतें? क्या हम भूल गए कि इस्लाम के स्वर्णयुग में मुसलमानों ने यहूदी या ईसाइयों के साथ मिलकर कितने बड़े काम किए थे? फिर आज क्या हो गया है कि हम गैर मुसलमानों के प्रति इतनी द्वेशभरी भावनाएं रखते हैं?

ऐसे ऐसे सवाल पूछ कर मुझे जितनी उम्मीद थी उससे ज़्यादा ही प्रतिसाद मिला। मैंने यह जाना कि मुसलमान ईसाइयों या यहूदियों के तरफ़ से जो सहन ाीलता दिखाते हैं वह कितनी नाजुक–कितनी जल्द टूटने वाली होती है।

स्वर्णयुग में भी इस सहन ीलता के अंदर एक निचले दर्जे की तुच्छता का ही भाव था। मुसलमानों ने उन्हें कभी भी अपना नही माना था।

इजिप्त की एक विदुशी है 'बाट योर' जो सहन ीलता पर और रो ानी डालती है। उसने इसको नाम दिया है 'धिम्मीपना'' (Dhimmitude)। इस भाब्द से उसने इस्लाम का यहूदी और ईसाईयों के प्रति संबंध साफ किया है। यह 'धिम्मी' क्या होता है? यह आया है 'अल–धिम्मी' भाब्द से जिसका मतलब है 'किताब के लोग' (Peoples of the Book) यानी ऐसे नज़दीकी लोग जिनकी मुसलमानों को रक्षा करनी चाहिए। या जो रक्षा के लायक हैं।

रक्षा? लायक? इस सिद्धान्त के पीछे क्या रहस्य है इसको ज़रा देखते हैं। अगर हम यहूदी और ईसाईयों को 'नज़दीकी' मानते हैं, तो उन्हें रक्षण की क्या जरूरत है? अगर नज़दीकी है तो उन्हें भी मुसलमानों जैसे ही अधिकार और जिम्मेदारियाँ मिलनी चाहिए। पर यही तो मु कल सवाल है। मुसलमान समाज ने कभी भी यहूदी और ईसाइयों को सम्मान या बराबरी के नज़रियें से नही देखा। फिर और लोगों की बात ही क्या?

इसका एक उदाहरण लीजिए। यहूदी और ईसाइयों ने हमे ाा रक्षा 'खरीदी' है। या यह कहिए कि अपनी जानें खरीदी हैं। हर आदमी पर लगने वाला कर देकर – जिसे 'जिझिया' कहते हैं, और कुरान इसकी इजाज़त देता है, ताकि भाांति बनी रहे! पर यह कोई सम्मान बढ़ाने वाली रीति तो नही हुई। हाँ, रसूल मुहम्मद साहब ने उस वक्त जिझिया नही लगाया जब अमन कायम था। पर ऐसा कोई कर 'सम्मत' होना मुझे कोई अवैध रूप से ऐंठा गया पैसा (Blackmail) ही लगता है। 'बाट योर' ने इस मुद्दे पर और भी लिखा है। मदिना के उत्तर दि ाा में कुछ यहूदियों को लूटने के बाद रसूल साहब ने क्या भार्ते लगाई इसके बारे में वह लिखती हैं ''वह खेती तो कर सकते थे पर एक नौकर या का तकार की तरह, उपज का आधा हिस्सा खोना पड़ता था, और किसी भी वक्त उन्हें निकाला जा सकता था।'' मैं रसूल साहब की निंदा तो नही कर रही हूँ पर उनके ऐसे रवैये से ही आगे मुस्लिम रणनीति या राजनीति बनती थी।

अब दूसरी तरफ से भी देखा जाए तो कई ऐसे इतिहासकार हैं जो कहते हैं कि रसूल साहब अपने पड़ोसी यहूदियों की तरफ बहुत स्नेह दिखाते थे। उन्होंने मुसलमानों को ि ाक्षा दी कि तुम भी उसी दिन उपवास करो जब यहूदी करते है, उन्होंने जुम्मे का दिन मुसलमानों के लिए प्रार्थना का रखा, जिसे यहूदी पवित्र मानते थे, और भाुरूआत में मक्के की बजाए जरूसलेम को प्रार्थना का दि ालक्ष्य स्थान बनाया। हाँ, सारे अच्छे भाव हैं पर हैं केवल हावभाव ही! जो एक मंजे हुए राजनीतिज्ञ की तरह के ही थे। पर इन्हीं को महत्त्व देना तो हमें इस्लाम की विशैली सतहों को भुला देने या उनसे ध्यान हटा देने जैसा ही होगा।

मैं जान बूझकर इस बात पर जोर दे रही हूँ। रसूल साहब के इन्तेकाल के कुछ ही साल बाद एक दिन हिला देने वाला दस्तावेज़ ज़ाहिर हुआ – जिसे 'अधिकृत' भी कहा गया। इस दस्तावेज़ का नाम था **'आमेर का करारनामा'**। कौन आमेर? यह थे रसूल साहब के दूसरे उत्तराधिकारी! इस दस्जावेज़ में यह 'आदे ा' था कि ''जब कोई भी मुसलमान बैठना चाहता हो तो सारे गैर मुसलमान उठकर खड़े हों, अपने पूजा स्थानों की वह मरम्मत ना करें, ना ही फिर से बनवाएं। एक मुसलमान की गवाही गैर मुसलमान की गवाही को काट देगी। वगैरा वगैरा''। इसका डरावना रूप तो आप समझ ही गए होंगे? वैसे तो 'आमेर' साहब का नाम एक अच्छे और भारीफ इन्सान के रूप में लिया जाता रहा है। इस 'दस्तावेज़' से उनका नाम कैसे जुड़ गया यह भी एक हैरानी की बात है। और जब यह एक रहस्य है तो एक नया सवाल उठता है – कि मुसलमानों ने इस करारनामे को सही मान कर नासमझी और असहन ीलता को ही क्यों अपनाया – समझदारी, विचारों की स्वतंत्रता और सहिश्णुता को क्यूँ छोड़ दिया? मैंने भी अपने आप से यह 'करार' कर लिया है कि इस सवाल के तह तक जाऊँगी।

अभी तो आपको इतना ही बता सकती हूँ कि इस करारनामें ने मुसलमानों के पुराने या नए इतिहासों में निर्णायक असर किया था। नवे भाताब्दी के भाुरूआत में एक नामी कानूनी सलाहकार ने मुस्लिम राज्यपालों को गैर मुस्लिम प्रजा से कैसे संबंध होने चाहिएं, इसका उपदे ापर आदे ा दिया था। इसमें गैर मुसलमानों के लिए जो खास आदे ा थें उनमें था :–

- तुम रास्ते के बीच में नही चलोगे, न ही बाज़ार में ऐसी जगह बैठोगे जिससे किसी मुसलमान को रुकावट हो।
- अपनी सवारी और उसके जीन पर खास नि ान लगाओगे
- अपने टोपी पर पहचान के लिए नि ान लगाओगे
- सारे कपड़ों के उपर से एक दिखने वाला कमरबंद पहनोगे ताकि तुम्हारी पहचान हर वक्त हो सके

अब बताइए, क्या यही साम्राज्यवाद नही है? और इन आदे ाों को 'ई वरीय पद्धति' बताकर फिर से और प्रभाव ाली बना दिया गया। क्या बात है! ई वरीय? खास पहचान? पद्धति? इन सबमें कोई भाब्द आपको न खटका हो, फिर भी कम से कम 'पद्धति' पर तो रूकिए! इसी से एक नियोजित संस्कृति का अहसास होता है। और यही है 'धिम्मीपना'।

इस्लामी स्वर्णयुग के पाँच सौ सालों में यही ओमर का करार छाया रहा। और मौजूद था वह भंगुर रि ता जो मुसलमान और गैर मुसलमानों में रक्खा गया। इसको थोड़ी गौर से देखिए–यहूदी और ईसाई एक अजीब उलझन में फंसे थे। उनकी लायकियत पर उन्हें किसी मुस्लिम राज्यपाल ने अच्छे ओहदे पर बिठाने की इच्छा जाहिर की तो नम्रता से उसे मना कर सकते थे पर वह राज्यपाल इससे नाराज हो सकता था। और प्रस्ताव स्वीकार किया तो 'करार' के अनुसार वह 'गुस्ताख़ी' हो सकती थी। और अपने परिवार के समेत वह अपराधी माना जा सकता था।

उसका एक उदाहरण भी देखिए। ' ामुएल' एक विद्वान यहूदी थे जो महान कार्य कु ालता रखते थे और राजनीतिज्ञ, सेनापति एवं तत्वज्ञानी भी थे। वह ग्रेनाडा के दो मुस्लिम राजाओं के प्रधानमंत्री रहे। थे बहुत प्रभाव ाली, पर सारे काम पूरी विनम्रता से करते थे। उनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र युसफ को प्रधानमंत्री पद दिया गया था। थे तो वह भी प्रतिभावान पर अपने अहंकारी स्वभाव की वजह से बहुत से मुसलमान उन्हें नापंसद करने लगे। और 'धिम्मीपन' का पालन न करने से उनका पतन हुआ। 1066 में युसुफ को मार दिया गया और वहाँ के यहूदियों का भी कत्ले आम कर दिया गया। उच्च पद लेकर दोनों ने ही 'धिम्मीपन' का उल्लंघन किया था, पर नम्रता से ' ामुएल' बचे रहे और युसुफ उद्दंडता के कारण अपनी जान गँवाने के साथ कई और यहूदियों के मौत के भी कारण बने। लेखक फायरस्टोन इस विशय में कहते हैं ''हमें यह भी देखना चाहिए कि मुस्लिम प्र ाासन के अन्दर यहूदी और अन्य अल्पसंख्यक लोगों को कई अच्छे पद मिले थे''। और भी लेखक इस बात का समर्थन करते हैं। कुछ कहते हैं कि यहूदियों पर अरब राज्यों में कोई जुल्म नही होता था, जबकि ईसाइ चर्च ने यहूदियों को अलग रखने के लिए खास रहिवासी मुहल्लों का निर्माण कराया था। इन विचारों का तो यह मतलब निकलता है कि थोड़े बहुत कत्ले आम हो भी जाएं तो इस्लाम को दोश न दें क्योंकि उस वक्त के ईसाई राज्यों ने पूरे यहूदियों का ही सफाया करने का प्रयास किया था!

इस तरह के कुछ विचारों को तो मैं मान सकती हूँ। पर इस बात का भी ख्याल रहे कि कैसे कैसे 'उमर के करार' को अपमानित तरह से प्रयोग में लाया गया था। उत्तरी अफ्रिका में यहूदी और ईसाइयों को अपने कंधों पर सूअर और बंदरों के चिन्ह लगाने पड़ते थे। मुस्लिम जागृति के केन्द्र – बग़दाद – में 'धिम्मी' लोगों को पीले सितारे लगे कपड़े पहनने पड़ते थे। सोचती हूँ अब कुछ बातें तो आप की समझ में आ रही होंगी! मेरे समझ में तो काफी कुछ आ गया है। मैं यह भी समझ रही हूँ कि इस्लाम ऐसा अलगाव वाला (Insular) मज़हब क्यों बन गया है। हम अगर सोचने पर रोक लगाकर पूरे जो ा से भेदभाव की नीतियाँ ही बरतेंगे तो और क्या हो सकता है? वही 'नकलची' पना और 'घृणा' मिलेंगे। फिर उसी 'घृणा की नकल' चलती रहेगी!

''रुक जाओ!'', आप में से कई लोग़ चिल्लाएंगे, ''कितनी बार आपको बताना पड़ेगा कि हमें यहूदी या ईसाइयों को अपमानित करने में कोई दिलचस्पी नही। हम नही चाहते कि वह मेरे भाहर में कोई 'चिन्ह' लगाकर घूमें। आप इस तरह सारे मुसलमानों को इस 'घृणा की नकल' में भाामिल न करें। Please!'' ठीक है यह बात, पर जान लीजिए कि यह घृणा की भावना केवल पीले सितारों तक सीमित नही है, वह बहुत गहरी दुर्भावना है। जितने मुसलमानों को मैं जानती हूँ उनमें से कोई भी इस भावना से मुक्त नही है।

बचपन से मैं कुत्तों से घबराती आई हूँ। मुझे इस्लाम में यही सिखाया गया कि वह एक बेहद गंदा प्राणी है। उससे कभी भी प्यार नही करना – वह तो पूरी तरह से भौतान का रूप है। यही बातें रसूल के 'हदिथ' में भी बयान हैं। जहाँ काले कुत्ते का ज़िकर आता है वहीं पर औरतों की और यहूदियों की घोर निंदा भी की गई है। निश्पक्ष तो छोड़िए काले कुत्तों के साथ ही ''बाकी और'' लोगों को घृणा के पात्र बताया है। अब हम अगर हादिथ के बारे में सवाल न पूछे और इस 'भेदभाव' से भी आँखें बंद कर लें, तो एक ऐसी प्रणाली कायम करेंगे जिसमें ई वर के ही बनाए गए प्राणियों को नीच या भौतानी उपज समझते रहेंगे।

कैसे पागलपना लगता है न? लेकिन यह सब सच है। एक कहानी सुनिए।

एक परिवर्तित मुसलमान के पास पालतु कुत्ता था। मुल्लाजी ने उससे कहा इसको निकाल बाहर कर दो। बार–बार उसको छोड़ने की कोि ा ा के बावजूद वह फिर वापस आ जाता था। मुल्लाजी को पूछने पर उसने बताया उसे भूखा मार दो! जब यह कहानी एक इस्लामी कानून के प्रोफेसर ने सुनी तो वह बगावत पर उतर आया। सारी किताबें और कानून छान मारें यह देखने के लिए कि मुल्लाजी कहाँ तक सही थे। उन्होंने पाया कि कुत्ते, औरतें और

यहूदियों को रसूल साहब ने कभी बदनाम नही किया था। वह तो कुत्ते की मौजूदगी में भी नमाज पढ़ते थे। ये सारी करतूतें बाद में आए मौलवियो की थी, और कोई ई वरीय आज्ञा ऐसी नही है, यह केवल पोंगापन है। अब इसी प्रोफेसर साहब ने तीन कुत्ते पाले हैं जिनमें एक काला भी है! यही है 'इज्तिहाद' का तरीका और प्रभाव जिससे ई वरीय प्रेम को आदमी के कानून से ऊपर रक्खा जाता है।

यह समझ लीजिए की 'इज्तिहाद' के भाव प्रकट करने के लिए हमें कोई विद्वत्ता की जरूरत नही है। इस्लाम के विशय में हमारी जो भी भांकाएं हैं उन्हें खुले में लाना पड़ेगा और हर इन्सान के मन में कुछ तो सवाल छिपे हुए होते ही हैं। हम लोगों ने कई बार यह 'पूछने' का काम किया भी है पर बहुत थोड़ा और डरते डरते! इजिप्त में करीबन सौ साल पहले साम्यवाद, नास्तिकवाद और evolution के विशय में चर्चाएं होती थी। करीब पचास दैनिक और दो सौ साप्ताहिक खुलकर इसमें हिस्सा लेते थे। धार्मिक सुधारों की माँग भी उठने लगी थी। इस विचार पद्धति पर यूरोप के साथ 19वीं भाताब्दी के अंत में हुए संधि का असर पड़ा – साम्राज्यवाद के खिलाफ और अरब – इस्लाम एकता के नारों से सारी चर्चाएं ही ठप हो गई। 1920 के करीब सारे सवाल हलके पड़ गए थे। उसी वक्त उभर आया "Muslim Brotherhood" या मुस्लिम बंधुत्व संगठन। उस वक्त का 'अल–काएदा' ही समझ लीजिए! इसमें भाामिल होने वाले दो ही चीज़े माँगते थे – कुरान और एक पिस्तौल! कोई सवाल करने का तो सवाल ही नही था।

आज इजिप्त में जो घोर यहूदी विरोध हो रहा है वह इसी का रूप है। इसमें कितना अडियल पना या मूर्खता है वह देखिए। 1990 में इस्राइल ने इजिप्त को साथ खेती में आधुनिक तंत्र बाँटने की पहल की। पर इजिप्त के अखबारों में सुर्खियाँ छपने लगी कि इससे ज़हरीले बीज और कैंसर पैदा करने वाली ककड़ियाँ दी जा रही हैं। इसी के साथ एक और मुहीम भाुरू की गई – ''जो औरतें चुइंग गम खाती है वह भयंकर कामुक हो जाती हैं और इन खेतों के फल खाकर आदमी नामर्द हो जाते हैं! और यह हाल है इजिप्त का जिसने इसराइल के साथ भाांतिसंधि किया था।

ऐसा ही एक संधि किया था जॉर्डन ने भी। वहाँ के कई अख़बारों ने – जिनमें दो सरकारी थे – कहा ''11 सितम्बर के हमले यहूदियों ने ही किए थे। यूरोप के यहूदी इसीलिए अमरिका गए कि वहाँ की सारी बैंकों को अपने काबू में कर लें। साथ ही सारे प्रसारण साधन, पूंजी, भोअर मार्केट और राजकीय सत्ता भी काबू करना था। अमरिकी वायु सेना में भी घुसपैंठ करनी थी। इस तरह सारे हवाई जहाज, प्रेस, रेडिओ, टीवी, बैंक और स्टॉक मार्केट यहूदियों के हाथ में आ गए थे। और अब बु ा साहब कह रहे है कि धमाकों की जाँच की जाएगी। अरे वह सब करने वाले यहूदी ही थें!''

यह तो खेद की बात है कि यह आरोप एक moderate अरब दे ा से निकले है–पर इससे खतरनाक बात यह है कि यही विचार अब पि चम के मुसलमान भी मानते हैं! 11 सितंबर के बाद मुझे एक खत मिला जिस में कहा था ''मैं एक उदारमत का मुसलमान हूँ। आपके लेखों ने मेरा सारा वि वास तो खत्म कर ही दिया है, साथ साथ हमनें इस्लाम का सही और सच्चा संदे ा बढ़ाने की जो भी कोि ा ों की थी वह भी ख़त्म हो गई।'' अब इन साहब ने यह 'सही और सच्चा संदे ा' क्या था यह बताने का कश्ट तो नही किया था पर यह बार बार कहा कि ''यहूदी ही सारी पत्रिकाएं चला रहे हैं और आप उन्हें ही समर्थन दे रही हैं'' – और ''हम आपको यह तो नही कहते कि अपने ऊपर censor बिठाओ पर इस पर विचार करें कि आप एक मुसलमान होकर ऐसे विचार प्रकट करती है और उसी का इस्तेमाल गैर मुसलमान करते हैं''।

यह 'सही और सच्चे' श्रीमान एक बात पर तो सही थे। मैं सुधार के विशय में जो भी लिखती थी उस पर यहूदी विचारकों ने काफी ध्यान दिया। इस्राइल ने मुझे 2002 में वहाँ आने का निमंत्रण भेजा! भाायद इसलिए कि मैं बंद दरवाजे खोलने का प्रचार करती हूँ। इस निमंत्रण पर विचार करते करते मुझे एक बहुत बड़े भेदभाव का ख्याल आया। मुसलमान जैसे यहूदियों से नफरत करते हैं वैसे ही औरतों से भी करते हैं। अब यही ग़नीमत है कि मुसलमानों के geo-political जख़्मों के लिए या उनके वैचारिक ठहराव के लिए वह औरतों को तो ज़िम्मेदार नही ठहरा रहे हैं! अब अगर इस्राइल की निरीक्षण और विवेचन करें तो भाायद इस्लाम के सुधार की चाभी भी मिल जाए!

मैंने इस्राइल आने के निमंत्रण को स्वीकार तो कर दिया पर दो भार्ते रखी।

- मैं जो भी चाहूँ वह सवाल पूछ सकती हूँ।
- कहाँ जाना है यह मैं ही तय करूँगी।

यह तो वही भार्तें हैं जो ऐसे ही निमंत्रण पर मैंने अरब और मुस्लिम संस्थाओं के सामने रक्खी थीं। उन्होंने तो कोई जवाब नही दिया था, पर यहुदी संस्थाओं ने मान लिया। फिर मैंने अपने आप से पूछा 'क्या मैं जाऊँ?' मुझे वह

लोग याद आए जो हर बात के लिए यहूदी 'सुअर या कुत्तों' को ज़िम्मेदार ठहराते हैं, या कहते हैं 'देखो मुसलमानों के साथ पैलेस्टीन में क्या हो रहा है' – पर वही तालिबान के अत्याचारों पर चुप रहते हैं!

यह 'अरब–यहूदी ड्रामा' मेरे दिमाग में हमे ा ही रहता था। इसीलिए मैंने सोचा, खुद ही देख लूँ कि क्या सच में इस्राइल मुसलमानों के इतने भयंकर क्रोध का दोशी है? यह वही क्रोध है जिसे अपने हालातों से छुटकारा पाने के लिए या ज़िम्मा छुड़ाने के लिए इस्तेमाल किया जाता रहा है। प चम के खुले वातावरण में रहते हुए अपने तौरतरीके जाँचने या बदलने की कितनी ज़रूरत है? अगर हम चाहते हैं कि मुसलमान अपने संकुचित वातावरण से निकल जाएं और अनुदारता को छोड़ दें – तो हमें पहले अपने आँखों पर लगी पट्टी निकाल फेंकनी पडेगी। फिर देखना चाहिए कि क्या इस्राइल उतना ही भयंकर प्राणी है जितना कि हम सोचते हैं।

मैंने इस्राइल के समर्थकों को कह दिया ''मेरा टिकट बनवा ही दो!''

अध्याय–4

दरवाज़े और कमरबंद

मैंने अपने साथी से पूछा, वेस्ट बैंक (पश्चिमी तट) जाने में कितनी दिक्कतें होंगी? काफी मुश्किल है, उसने कहा।

इस्राइल–फिलिस्तीन युद्ध में काफी तनाव चल रहा है। अमन की बातें टूट गई थीं और रोज़ ही आत्मघाती बमबाज़ फिलिस्तीनी, इस्राईल से इसके जवाब में हेलिकॉप्टर से हमले, कर्फ्यू और अराफात के मुख्यालय पर हमला–यह सब चल रहा था। हमारे जाने के दिन तक न हमें हां कहा गया–न ही 'नहीं।

किन्तु हम पहुँच ही गए। पहले दो दिन तेल–अबीब और फिर यरुशलम। आशा विद्यमान थी कि वैस्ट बैंक भी जा पाएंगे।

तेलअबीब में एक पत्रकार ने प्रश्न उठाया था –''क्या इस्राईल को यहूदी राज्य रहना चाहिए या एक ऐसा सेक्युलर राज्य, जहाँ आपके मजहब/विश्वास का कोई महत्त्व न होगा और यह भी कहा कि होलोकॉस्ट (यहूदियों का कत्लेआम) को क्या जगह देनी चाहिए ? न केवल इस्राईल के इतिहास में, बल्कि आज के संदर्भ में, जब इस्राईल एक शरण–स्थली बन गया है–उसका क्या हो?'' मेरा ख्याल था कि इस्राइल में आप मजहब पर हमला न कर सकेंगे। पर मैं गलत थी। किसी भी बातचीत पर खुला वाद–विवाद जरूर होता देखा, पर मनाही कहीं नहीं थी। इस्राईल का कानून आपको अपनी बात कहने की आजादी देता है–यही बहुत कुछ कहता है, उनके तरीकों के पक्ष में।

एक घटना हुई थी। मुद्दा यह था कि बाहर के टीवी न्यूज़ चैनल कहाँ तक सही–सही बातें दिखा रहे हैं या लड़ाई की खबरें ठीक दे रहे हैं। इस्राईल के संचार मंत्री ने धमकी दी थी कि ''हम 'सीएनएन' को हटाकर 'फॉक्स चैनल' को सारे अधिकार देंगे।'' उस पर इस्राईली पत्रिका हारेज़ ने कहा 'ऐसा करने से तो आप भी अराफात जैसे ही तेवर दिखा रहे हैं, जैसे उसने सीएनएन के मुख्य संवाददाता पर फोन पटक दिया था। केवल प्रचार करने के बजाए अपने सिद्धांत कायम रखने के पक्ष में पत्रिका ने कहा, ''इस्राइलियों का यह अधिकार है कि वे जान लें कि सीएनएन या बीबीसी इस्राईल के सरकारी दृष्टिकोण की सिर्फ छाया नहीं है।''

यरुशलम में 'डोम ऑफ दि रॉक' देखने गई। मुसलमानों के लिए बहुत मुकद्दस (पवित्र) जगह है। बताया जाता है कि यहीं से रसूल मुहम्मद जन्नत गए थे और कई पहले रसूलों से मिलकर उनसे ज्ञान प्राप्त किया। सुनकर तो मुझे बहुत खुशी हुई थी। पर जब वह स्थान देखने का समय आया, तो इतना सुहावना नहीं था।

मैं वहाँ पहुँची, एक लंबा चोगा पहनकर, उसके ऊपर पूरी बांह का, पूरे बटन वाला कार्डिगन भी, और बालों पर 'हिजाब' पहना था। वैसे इस्राइली साथियों ने वहाँ के वक़्फ वालों को पहले ही खबर दी थी। शायद यही बताने कि इर्शाद ''आप लोगों'' में से एक है। शायद यह पूरा सही नहीं था।

वहाँ पहुँची तो वक़्फ के एक मोटे डरावने शख्स ने ऊपर से नीचे तक देखा–फिर बोला–हमें तो किसी औरत के आने की खबर नहीं थी। शायद मेरा नाम सुनकर ('इरशाद'), जो कि अक्सर लड़कों का नाम होता है, वक्फ वाले भी किसी आदमी का इन्तजार कर रहे थे? फिर यह तय हुआ कि यरुशलम के एक पुलिस अफसर की देखरेख में ऊपर जा सकती हूँ।

मैं चलने ही लगी, तभी बताया गया कि एक और शर्त है। मुझे एक कमरबंद (गर्डल) पहनना पड़ेगा। हे भगवान्! ''उमर का करारनामा'' याद आया शायद। उनके कथनानुसार सारे 'धिम्मी' लोगों को ऐसा गर्डल पहनना पड़ता था। मैं जब उसे अंदर से पहनने लगी तो, उसने सिर हिलाते हुए कहा 'न – ऊपर से पहनो'। कपड़ों के ऊपर ताकि सबको खबर हो। मैं एक पाश्चात्य मुस्लिम औरत तो थी ही और शायद छिपी हुई यहूदन? शायद इतनी ही बात थी कि मैं निचले दर्जे की थी। बहुत कोशिश की, जब कपड़ों के ऊपर से न पहना जा सका तो अंदर पहनने की इजाज़त हो गई।

जैसे ही 'अल अक्सा' मस्जिद के दरवाजे पर दाखिल हुई तो एक बुजुर्ग आदमी मेरा रास्ता रोक कर खड़ा हो गया। उसे बताने की बहुत कोशिश की कि वक्फ वालों ने मुझे अंदर जाने की इजाजत दी है, पर वह समझने को ही तैयार न था। अचानक मेरी तरफ टेढ़ी नज़रों से देखते हुए कहा ''बिस्मिल्ला–अल रहमान–अल रहीम''। कुरान की पहली लाइनें। अब क्या चाहते हैं यह साहब ? क्या जवाब दूं। मैंने आगे की लाइनें बोली, ''अल–हमदुलिल्ला रब्ब अल–अलामीन'! (मेरी मदरसे वाली शिक्षा काम आ गई) और बड़ी अनिच्छा से अंदर जाने को कहा।

मस्जिद देखकर बढ़े 'डोम' की तरफ। अंदर तेज़ रोशनी सिर्फ पुराने रॉक पर थी, इसलिए बाकी अंधेरा था। एक मुस्लिम औरत मिली जो न्यू जर्सी (यू.एस.ए.) में पढ़ाती थी। हर साल यहाँ आती थी। बातें करते समय उसने कहा''–यहाँ हमारे लोग मुश्किल में हैं। कोई नौकरी नहीं है। कई दिन हो गए। ''फिर मैंने पूछा 'ढेर सारी मदद जो पश्चिमी देश फिलिस्तीन को दे रहे हैं, उसका क्या ?'' ''पता नहीं– पर शायद उसमें से कुछ–कुछ तो ...'' अपनी जेब में पैसे डालने के इशारे किए। फिर मैंने पूछा –'क्या हमारे पास पैसे नहीं हैं या सही नेतृत्व नहीं है जो उसका सही

इस्तेमाल कर सके ?' 'भगवान् जाने !' उसने कहा, ''कई लोग तो यह कहते हैं कि मस्जिद बाहर से तगड़ी दिखनी चाहिए। इन्हें तो केवल पैंतरेबाज़ी चाहिए–लोगों का कुछ भी हो।''

किसी तरह अपना कमरबंद उतारकर वापस गई। समाचार मिला कि हम 'वेस्ट बैंक (पश्चिमी तट) देखने जा सकते हैं। सवेरे हमें एक नयाचार अधिकारी (प्रोटोकॉल अफसर) ने कुछ जानकारियां दीं। वह फिलिस्तीनियों के साथ ही काम कर रहा था और उनमें विश्वास भी रखता था। उसने कहा, ''ये लोग स्वयं ही अपनी सरकार चला सकते हैं–अगर उन्हें उनके हाल पर छोड़ दिया जाए और इसमें केवल यह बात नहीं कि इस्राईल सैनिकी कब्जा खत्म कर दे। उसका इशारा यह भी था कि आज की फिलिस्तीनी सरकार को अपना रौबदार रवैया बदलकर ऐसी सरकार बनानी चाहिए जो अपने लोगों की भी कुछ कद्र करे। फिर उससे चाहे उनके कौमी (नेशनलिस्ट) ख्यालों को चोट पहुँचे। 'फिलिस्तीनियों ने इस्राइलियों से बहुत कुछ सीखा है–कई मुद्दों पर तो वह इस्राइलियों की तरह बनना चाहते हैं।'' इस अधिकारी ने कहा, ''मेरा चालक कहता है कि यहाँ भी कानून का राज होना चाहिए, जैसा इस्राइल में है।'' आम लोगों की भी यही राय है। एक पत्रकार कहते हैं, 'जब फिलिस्तीनियों से पूछते हैं कि कौन–सा लोकतंत्र (डेमोक्रेसी) उन्हें पसंद है, जिसे वह चाहते हैं। इस पर उन्हें इस्राइली तरीका ही पसंद होता है।

हम ''रामल्ला'' पहुँचे, उसी दिन इस्राइली फौज ने कर्फ्यू हटा दिया था ताकि परीक्षाएं हो सकें। लोग दौड़दौड़ कर अगले हफ्ते का राशन जुटा रहे थे। कई टूटी–फूटी दुकानों पर लिखा था 'यूरोपियन कमीशन के द्वारा मदद'। पर बहुत सी बंद थीं या फिर उन्हें फट्टे जड़ कर बंद किया गया था।

हम जहाँ जा रहे थे उस राजदूतावास में एक लेखक 'रज़ा शाहदेह' आने वाले थे, जो वकील भी थे और मानव अधिकार दल के संस्थापक भी थे। इन से मिलने को मैं उत्सुक थी, क्योंकि कम से कम अपने लेखों में वह केवल 'उन' लोगों को कसूरवार ठहराने के आगे कुछ और भी कहता था। उसके पिता 'अजीज़' पहले प्रमुख फिलिस्तीनी थे, जिन्होंने इस्राईल का 'होना' मानते हुए 'दो कौमों' पर एक आधारभूत योजना भी पेश की थी। शाहदेह के मुताबिक अराफात के गुर्गों ने उन्हें 'नालायक पिछलग्गू' कहकर अरबी रेडियो पर धमकाया भी था कि, ''तुम्हें अपनी गद्दारी की कीमत चुकानी होगी। तुम्हें खत्म कर देंगे–हमेशा के लिए, चुप हो जाओ, बाकी लोगों के लिए एक मिसाल बना देंगे।' आदि। फिलिस्तीनी वकीलों की कौंसिल ने उन्हें निकाल बाहर कर दिया था और कुछ वर्षों के बाद उनकी संदिग्ध स्थितियों में हत्या हो गई थी। मुझे आशा थी कि ऐसा शेरदिल आदमी कुछ तो साफ–साफ बोलेगा।

उनके आने में देर थी। तब एक और वक्ता ने लंबे भाषण में कहा ''अपने आपको धोखा न दें। कोई भी कब्जा करने वाला कभी भी रहम दिल नहीं हो सकता। कब्जे का मतलब ही होता है कि आप अपनी किस्मत पर अधिकार खो बैठे हैं। आप रास्ते में जिन चौकियों से गुज़रकर आए हैं, आपने देखा ही होगा, हम हिल नहीं सकते।'' ये चौकियां तो सच में पिंजड़ों की तरह ही थीं–फिलिस्तीनियों के लिए। (इस हिसाब से आज जो हिफाजती आड़ – सिक्योरिटी बेरिअर बने हैं वे भी घुटन ही पैदा कर रहे हैं। कई गांव दो में बँट गए हैं–छोटे–छोटे बच्चे ही खबरें या छोटा–मोटा सामान लेकर इन बंधों के पार जा सकते हैं। यह न तो फिलिस्तीनी व्यापार के लिए अच्छा है न ही उनकी इज्ज़त के लिए।)

एक और पत्रकार ने कहा, ''यह आत्मघाती बमबाज़ों को बंद कर दो – तो हर एक को घूमने की आजादी होगी।'' दूसरे पत्रकार इसे मानने से इन्कार करते हैं।'' इन धमाकों से पहले भी कोई आजादी नहीं थी। हमें अपना पहचान–पत्र हमेशा साथ रखना पड़ता है। हमारी गाड़ियों के नंबर प्लेट भी अलग रंग के होते हैं, यही तो रंगभेद है।''

एक और पत्रकार ने पूछा कि सन् 2000 में अमेरिकी राष्ट्रपति क्लिंटन के द्वारा प्रस्तावित संधि पर बात होने के पहले ही अराफात उसे छोड़कर खड़े हो गए। यह तो स्वाधीन देश बनने का सुनहरा अवसर था जिसमें लगभग सारे मुद्दे फिलिस्तीन के पक्ष में जा रहे थे। इस पर टिप्पणी हुई कि यह संधि तो केवल एक छलावा था जैसे दक्षिण अफ्रीका की तरह छोटे–छोटे नीम आज़ाद देश बनाए जाने थे।

इस बात पर हमने इतना ही पूछा कि चाहे यह बात सच भी हो, अराफात ने इस संधि पर अपनी तरफ से संशोधन क्यों नहीं पेश किया ? ऐसे पूरे सुझाव को ही ठुकरा देने से उनके अपने लोग ही आगे की बातचीत या संधि से वंचित रह गए। इतने गहमागहमी में ही रज़ा शाहदेह आ गए।

अब मुझे इन्तज़ार था कि अब साफ शब्दों में कुछ ठोस सुनने को मिलेगा। सभी लोग शाहदेह की तरफ देख रहे थे। जब उसने अपनी किताब निकाली तो मैं खुश हो गई, यह तो मेरी पूरी पढ़ी हुई थी। वाह–वाह। फिर शुरूआत हुई। ''पृष्ठ 173'', उसने कहा, "इस्राईल के दो भयानक निशान हैं, इनका नज़रिया और इनके बुल्डोज़र। पहले से तो प्रेरणा मिलती है और दूसरे से एक ही दिन में बरबादी, जिसे बनाने में कई लोगों को महीनों लगते हैं।'' इसी तर्ज़ में आगे शाहदेह वर्णन करने लगे–कैसे इस्राईल ने अपने तकनीकी ज्ञान का प्रयोग करते हुए फिलीस्तीनियों को बेघर कर दिया था। अपनी ही किताब से पढ़ते हुए – जिसे मैं बार–बार रट चुकी थी–किसी अहम मुद्दे पर आने के थोड़ा पहले ही वह रुक जाता था। एक मुद्दा था जहाँ उसके पिता (अजीज़) ने कहा था, 'फिलिस्तीन के लिए कुछ तसल्लीबख़्श नतीजा केवल बातचीत से ही निकल सकता है, बमबारी से नहीं। बस एक राजनीतिक पहल ही काम करेगी, वह भी जल्द ही क्योंकि अब तो जमीन ही खत्म हो चली है। यही अराफात को करना था, और नहीं किया।''

पर जैसे शाहदेह ने अपने ही किताब पर 'सेन्सर' की कैंची चला दी, मैं तो दंग रह गई। फिर महसूस किया कि एक भीड़ के सामने खड़े होकर उनकी बात न मानना बहुत महंगा पड़ता है–जैसा शाहदेह के पिता ने अपनी जान गंवाकर ही जाना। कैसी अजीब बात थी कि आज बाकी सब लोग तो आज़ादी से घूम रहे थे पर शाहदेह अपने 'आधे सच' लेक्चरों से बाहर नहीं आ सकते थे।

अचानक सबको याद आया कि कर्फ्यू फिर लगने से पहले और कई काम पूरे करने थे–फलस्वरूप सभा समाप्त हो गई। बाहर आए। चाय के साथ हैम और चीज़ के सैंडविच बने थे। इस मीटिंग में जब कम से कम एक मुसलमान और दो–एक यहूदी उपस्थित थे, जिनके लिए सुअर हराम है, इसका इस्तेमाल और यह भी एक डिप्लोमेसी के अड्डे पर !

उसी रात मुझे टोरेंटों वापस जाना था। हवाई अड्डे पर मैं सीधी किताबों की दुकान में घुसी। यह मेरी कमज़ोरी है – दो किताबें उठाइं – एक कुछ पक्षपातरहित (न्यूट्रल) थी और दूसरी पूरी तरह अरबों की तरफ झुकी हुई। परन्तु यह किताब इस्राईल में खुलेआम मिल रही है, यह भी उनके खुलेपन का संकेत है। फिर मुझे बार–बार याद आता रहा वह 'रंगभेद' का आरोप जहाँ अरबों को दिनरात यही सहना पड़ता है जिसकी मुझे केवल झलक ही मिली थी। वहीं इस्राईली सिपाही जिनमें जवान औरतें भी थीं – हथियारबंद होकर गश्त लगा रहे हैं – दो चौकियों के बीच में धूल भरे लंबे रास्ते – तैनात सिपाही अरबी भाषा जानते हुए भी उसका प्रयोग नहीं करेंगे। पहचान–पत्र, कंटीले तार, बख्तरबंद गाड़ियां, मीलों तक फैली यहूदी बस्तियां, जिन्हें हटाने में सालों साल लग जाएंगे – और तब तक कोई भी नतीजा नहीं निकल सकेगा। क्या गोलगोल परेशानी के चक्कर हैं। पर कुछ समझ में आने वाला ही है।

एक किताब खोली–1997 के Journal of Palestine studies की कॉपी। वह ऐसा समय था जब शांति की कुछ उम्मीदें थीं। पहले ही लेख में कहा गया था, 'जिन्होंने इस्राईल की स्थापना की, उन्होंने लोकतंत्र की हत्या की थी। एक यहूदी नेता का हवाला दिया था – 'हमने अपनी मांगों को कभी भी इस बात के भरोसे नहीं रखा, कि अरब हमारी बातें मानेंगे। जब उनकी रज़ामंदी मांग रहे हों, तो ज़रूरी था कि वे मना कर देंगे।' जैसे – जैसे पढ़ती गई तो लेखक की कड़वाहट का आभास हो रहा था।

इसी किताब में एक और इकबालिया (कन्फेशन) कहानी पढ़ी। लिखने वाला सालों बाद 'गाज़ा' वापस आया था। सन् 1997 में लग रहा था कि स्वतंत्र फिलिस्तीन शायद बन ही जाएगा और वह इसी उम्मीद में वापस आया था कि स्वतंत्र होने के बाद क्या करेंगे। पर उसे जो देखने को मिला, वह था एक ऐसा समाज जो सच्चाई – (honesty) से खाली था। हर तरफ केवल बहानेबाज़ी थी, कि पुराने दुखड़े कैसे उजागर करें। उसने कहा, 'कुछ नई चूना लगी दीवारें देखीं। कुछ ही दिन पहले एक फिलिस्तीनी किसी उड़ती गोली का शिकार हो गया था। इन्हीं दीवारों पर उसके प्रति शोक संदेश (obituary) लिखे गए थे जिसमें हर जाने – माने या अनजान गिरोहों ने उसे अपने ही गुट के एक शहीद और शानदार हीरो की तरह पेश किया था और उसको मारने वालों को कड़ी सज़ा देने का भी संकल्प किया गया था। अब इन बातों में सच्चाई और वह सफेद दीवार इन दोनों का कत्ल करा दिया गया था क्योंकि यह पक्की बात थी कि वह मृत व्यक्ति किसी भी गुट में शामिल नहीं था। यह तो 'शहीदों के लिए भूख' थी जो एक भूत की भाँति सवार हुआ भावावेश था, सबको खाने वाला।

इससे स्पष्ट था, कि उस उम्मीद के समय में फिलिस्तीनी मुसलमानों पर 'मृत्यु की इच्छा' ही सवार थी। ऐसा क्यों ? लिखने वाला कहता है, यह केवल कब्ज़े की कठोरता का प्रभाव ही नहीं था। यह तो पूरी तरह आत्मनिरीक्षण – खुदनिगरी – से इन्कार करने की बात थी। इसी से नेकी की कद्र ही खत्म हो गई, जिस पर समाज की नींव रहती है। अपने आपको किसी भी टीका – टिप्पणी के ऊपर या परे समझना यह आत्मविश्वास नहीं–यह तो अपने आपको पूरी दुनिया से अलग करके एक कैप्सूल (डिबिया) में बंद कर देने के बराबर है और इसकी बड़ी भारी कीमत चुकानी पड़ी है।

अब मैंने पक्का इरादा बना लिया कि मैं अवश्य पता लगाऊँ कि मुसलमानों ने कुरान की उस अहम बात से कैसे धोखा किया, जो कहती है, 'अल्लाह कभी भी लोगों के अंदर जो है, उसे बदलता नहीं – जब तक वह खुद अपने अंदर जो है उसे बदल न दें।' इस्राईली अखबार पढ़कर मुझे तसल्ली हुई कि अपनी मज़हबी कमज़ोरियां जाहिर करने में कोई शर्म नहीं होनी चाहिए। 'वक़्फ' ने मुझे सिखाया कि मुंह में डांट ठूँसने से काफी बदनामी होती है–चाहे वह कमरबंद (गर्डल) हो या और कुछ। मैं चुप नहीं रहूंगी। अब पता लगाना ही होगा, कौन सी चीज़ें हैं जो हम मुसलमान अपने आपको बताते रहते हैं, ताकि हम लोग हमदर्दी की खोज करते रहें और ''हमें शिकार बनाया जा रहा है'' इसी बात पर गुज़ारा करते रहें।

अध्याय–5

कौन किसको धोखा दे रहा है ?''

फिलिस्तीनियों में एक चुटकुला चल रहा है – 'अराफात शहीद होकर जन्नत में पहुँच जाते हैं, वहाँ देखते हैं कि उनके जैसे ही कई 'शहीद' एक भीड़ बनाकर खड़े हैं–अपनी हूरें और अंगूर की शराब पाने के लिए बेताब–पर जन्नत के दरवाज़े के बाहर ही हैं। वहाँ के फरिश्तों ने उन्हें अंदर नहीं जाने दिया है। बेकाबू हो रही भीड़ ने जब अराफात को देखा, तो एक चैन की साँस ली–हमारे 'सद्र' (राष्ट्रपति) अब यहाँ हैं और वही हमारे लिए बोलेंगे। कहकर एक दूसरे को दिलासा देने लगे।

अराफात चक्कर में आ गए। पूछा, तुम लोग अंदर क्यों नहीं गए ?

'हमारे नाम उनकी लिस्ट में नहीं है। उन लोगों ने कहा है कि 'फिलिस्तीनी' नाम की कोई चीज़ ही नहीं है।'

अराफात खिड़की की तरफ सरके और वहाँ बैठे फरिश्ते–बाबू को अपना परिचय दिया कि वह फिलीस्तीनी लोगों के रहनुमा (लीडर) हैं। 'कौन लोग', अचंभे में आया फरिश्ता।

'फिलिस्तीनी लोग', अराफात ने गुर्रा कर कहा। फिर फरिश्ता–बाबू ने सारी लिस्टें फिर से देखीं, फिर मना करते हुए कंधे उचकाए। अराफात ने ज़ोरदार मांग की कि वह अल्लाह से मिलना चाहेंगे।

देवदूत ने जाकर अल्लाह से कहा–बाहर दरवाज़े पर कोई चिल्ला रहा है कि वह और उसके लोग 'शहीद' हैं और अपने जन्नत में रहने का हक मांग रहे हैं। परंतु उनमें से कोई भी हमारी लिस्ट में नहीं हैं। 'क्या तुम्हें यकीन है'? अल्लाह ने पूछा। 'पता नहीं कितनी बार मैंने तसल्ली की है।'

काफी देर सोचकर अल्लाह ने फर्माया, ''ऐसा करो जब्रिल (मुख्य फरिश्ता) को बताकर उनके लिए एक 'कैम्प' बनवा दो–जहाँ ये लोग कुछ सही नतीजा निकलने तक रह सकेंगे'।

वाहवा... वाहवा ...। चाहे जन्नत में, चाहे जमीन पर फिलिस्तीनी तो हमेशा के लिए 'मुहाजिर' (रिफ्यूजी) ही रहेंगे।

इस चुटकुले में फिलिस्तीनियों के डूबते अहसास हैं कि उन्हें कोई भी नहीं चाहता। चिल्लाने वाले अरब 'कौम' भी नहीं। आप इन लोगों को ''अरबी दुनिया के यहूदी'' कह सकते हैं।

'इस्राईल देश' की स्थापना करने की मुहिम–जिसे यहूदीवाद भी कहते हैं – यूरोप में उन्नीसवीं सदी के अंत में उभरी। उन लोगों ने समझ लिया था कि यहूदी विरोध चलता ही रहेगा–शायद और भी कड़ा हो जाएगा। उन्होंने ताकीद दी कि यहूदियों को भी एक कौमी 'होमलैंड' मिलना ज़रूरी है और वह कहीं अंटार्टिका या युगांडा में नहीं हो सकता। उसे वहीं जगह मिले– पूरब दिशा में बालू मिट्टी के ढेरों में, जिनसे उनके पुराने गहरे रिश्ते हैं और दुखती रगें हैं। उसी जगह जिसका अरबों ने काफी देर बाद 'फिलिस्तीन' नामकरण किया था।

इस बात पर काफी बहस हो चुकी है कि यहूदियों का फिलिस्तीन के साथ क्या वस्तुतः कोई ऐतिहासिक रिश्ता–नाता है, जिसके बूते पर वे उसे अपना कौमी स्थान कह सकें?

पहली बात – एक अंतर्राष्ट्रीय शोधकों के समूह ने कई डी.एन.ए. का अध्ययन करके लेख छापा था, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यहूदी और अरब लोगों का कम से कम एक तो साझा 'बापदादा' था, जिसे इस शोध में 'साझा मध्यपूर्व मूल' कहा था।

दूसरा – इस्लामी रिवाज़ भी इस बात से सहमत है। **कहते हैं 'इस्माईल जिसने अरबी कौम की स्थापना की और 'ईशाक' जिसने यहूदी कौम की बुनियाद रखी, सौतेले भाई थे और रसूल 'अब्राहम' के बेटे थे। कहते हैं कि रसूल मुहम्मद, इस्माईल के वंशज थे जबकि 'मूसा' और 'जीसस' इशाक (आईज़ैक) की औलाद थे। सभी का अब्राहम के साथ खून का रिश्ता था।**

इससे तसल्ली न हुई हो तो सुनिए, कुरान की बात – ''हमने इस्राइलियों को कहा 'इस देश में रहो, जब आखिरी वादा पूरा होगा आगे चलकर सबको इकट्ठा करेंगे।'' वैसे चुनकर हवाला देना (Quote) मुझे अच्छा नहीं लगता पर यह न कहती भी तो सही नहीं होता।

अंत में हम देखते हैं 'यहूदीवाद' की मुहीम को। यूरोप के यहूदी जब फिलीस्तीन पहुँचे तो पाया कि उन्हीं के मज़हब के कई लोग आज के वेस्ट बैंक (पश्चिमी तट) में रह रहे थे। अब वहाँ यहूदी कैसे पहुँचे या वे हमेशा से वहीं बने हुए थे ? आज वेस्ट बैंक पर बस्तियां बनी हैं वही हमारा ध्यान खींचती हैं। पर यहीं कहीं उनका भी पैतृक स्थान है, अवश्य। यह चिल्लाना कि सारे यहूदियों ने फिलिस्तीन पर नाजायज़ कब्जा किया है, सरासर उतना ही गलत होगा जितना यह कहना कि अरबों का इस्राईल में कोई स्थान नहीं है।

फिर फिलिस्तीनी अरब विश्व में ही कैसे 'मुहाजिर' बनकर बाहर फेंके गए? कुछ तो लड़ाई के उथल पुथल में मुहाजिर बने – वह लड़ाई जो अरब देशों ने ही शुरू की थी। जब सन् 1948 में इस्राईल बन गया, उसके एक ही दिन बाद पाँच अरब फौजों ने इस्राईल पर हमला किया और अरब मुहाज़िरों का मामला गंभीर हो गया। इस्राईली अधिकारियों ने कुछ शहरों में से अरबों को बाहर निकाल दिया। इससे जो तकलीफें पैदा हुई, उन्हें इस्राईल अब मना नहीं कर सकता। कुछ शहरों में अरबों को रुकने के लिए कहा गया और कई रुक भी गए और इस्राईलवासी भी बन गए। पर बहुत से फिलिस्तीनी निकल गए, इसी आशा में कि जब इस्राइलियों को समुंदर में ढकेल देंगे तब वापस आएंगे। **ये जो मुहाजिर बने उन्होंने निकल जाने का आदेश इस्राइलियों से नहीं, बल्कि अरबों से लिया था।** तत्कालीन सीरियाई वज़ीरे–आला, (प्रधानमंत्री) खालिद अल–अज़्म ने 1973 में लिखा है, 'अरब देशों की सरकारों ने फिलीस्तीन के निवासियों को फर्मान दिया था कि वे निकल जाएं और आतंक फैलाते हुए नज़दीक के अरब देशों में चले जाएं ....। सन् 1948 से हम बार–बार शरणार्थियों की वापिसी की मांग कर रहे हैं, पर हम ही हैं जिन्होंने उन्हें निकल जाने के लिए उकसाया था .... और उनके इस भाग जाने से यहूदियों को मदद ही मिली, किसी परिश्रम के बिना ही उन के हालात बेहतर हो गए।

और फिर भी हम यही कहते रहते हैं कि फिलिस्तीनी मुहाज़िरों के मसले के लिए इस्राईल ही ज़िम्मेदार है।

संयुक्त राष्ट्र संघ का भी इस मसले को उलझाने में हाथ है। उनके अनुसार आज 34 लाख फिलिस्तीनी मुहाजिर हैं। पर इसकी बारीकियों को बताते समय एक विचित्र बयान देते हैं। वे इसमें सिर्फ उन सात लाख असली मुहाज़िरों को ही नहीं, बल्कि उनके बच्चों और उनकी आगे की पीढ़ी को भी शामिल करते हैं। इनमें से करीब एक तिहाई लोग शहरी शिविरों में रहते हैं, जहाँ उनके चारों तरफ ऊंची इमारतें, खुले खेत या निजी फिलिस्तीनी बंगले हैं।

कितना दर्दभरा और कितना फिज़ूल। सन् 1950 के आसपास आखिर ऐसे ही लाखों यहूदी लोगों को अरब देशों से निकाल दिया गया था। पर वे कहीं भी मुहाज़िर कैम्पों में नहीं भेजे गए। इनमें से लगभग सबको ही इस्राईल ने अपने ही देश में शामिल करके अपना ही मान लिया। इसी के साथ–साथ इस्राईल ने लगभग एक लाख फिलिस्तीनियों को भी अपनी नागरिकता दी है–परिवारों को इकट्ठा करने की योजना में। **किन्तु ऐसा ही अरब देशों ने कुछ किया है क्या? उन्होंने तो अपनों को धोखा ही दिया है या हालात और भी बदतर बनाए हैं।**

सन् 1991 की लड़ाई के बाद कुवैत ने कम से कम तीन लाख फिलिस्तीनियों को अपने देश से निकाल दिया, कारण था सद्दाम हुसैन का अराफात को सहारा देना। अरब देशों की चुप्पी या निर्दयता पर इसी मामले में एक लेखक ने कहा, ''जिन्हें निकाल दिया उनमें से बहुत से यह भी नहीं जानते थे कि फिलीस्तीन क्या है । वे तो बस कुवैत ही जानते थे। अनेक निर्दोष लोगों को निकाल देने के अतिरिक्त अनेक को अकारण कैद कर दिया गया । अनेक को चौराहों पर गोली मार दी गई और अनेक को यातना देकर मार दिया गया।''

अरबी मक्कारी–बनावटी बातचीत की और एक मिसाल। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक शाखा है जो फिलिस्तीनी मुहाज़िरों की देखभाल करती है। कई साल तक कुवैत ने इस्राईल से कम धन इस संस्था को दिया। जब तक तेल और धन 'बहना' शुरू नहीं हुए, सऊदी अरब ने भी कम ही दिया। आज जब उनके खजाने में पैसे कूट–कूट कर भरे हैं और बहुत सी ज़मीन भी देने को है तब भी सऊदी अरब किसी फिलिस्तीनी को अपनी नागरिकता नहीं देता। हाँ, वे लंबे–लंबे टी.वी. प्रोग्राम चलाते हैं जिनके द्वारा आत्मघाती दस्तों के लिए धन इकट्ठा करते हैं, तथा जो ऐसे काम में शहीद हो गए, उनके परिवारों को मक्का का हज मुफ्त में अवश्य करवाते हैं।

लेबनान, सीरिया और इराक जो फिलीस्तीन के चारों तरफ हैं, ऐसे बयान देते हैं कि अगर फिलिस्तीनियों को अपने देशों में रहने देंगे तो वहाँ के शिया और सुन्नियों में गड़बड़ी हो जाएगी। **इराक में तो अल्पसंख्यक सुन्नी बहुसंख्यक शियाओं पर राज कर रहे हैं।** अब 'बाहरी' लोगों को नागरिक बना कर क्यों इस बात का पर्दाफाश कर दें। सद्दाम ने भी अपने जानी दुश्मन सऊदियों की ही तरह आत्मघाती लोगों के परिवारों की देखभाल की थी। **लेबनान के लोग और भी लापरवाह हैं। उनके कानून में फिलिस्तीनी शरणार्थियों को पूरे समय काम करना, जमीन जायदाद खरीदना या कोई पेशा चलाना मना है।** वे केवल छोटे–मोटे कामों से ही गुज़ारा करते हैं। बस, जॉर्डन ही एक ऐसा देश है, जिसने फिलिस्तीनियों को नागरिकता दी है। पर वैसे तो सारे ही जॉर्डनी वंश से फिलिस्तीनी ही हैं।

इस्राईली साम्राज्यवादियों को फिलिस्तीनी मुहाजिरों की समस्या के लिए हम जितना चाहे कोसते रहे हैं पर सच बात यह है कि हम मुसलमानों को अपने ही साम्राज्यवादियों को दोषी ठहराना पड़ेगा। शायद आप कहेंगे–बराबरी में नहीं, पर मैं तो कहती हूं, उससे भी कुछ ज़्यादा ही वे दोषी हैं। अगर यह देखें कि यह 'मध्यपूर्व नाटक' कैसे शुरू हुआ था तो **यही एक सबक है जो बताता है कि मुसलमान ही कैसे एक–दूसरे की ही पीठ में सालोंसाल खंजर घोंपते आए हैं।**

अब जो बताने जा रही हूँ वह पूरी तरह इतिहास तो नहीं है पर आज के ध्रुवीकरण में छिपी कुछ सच्चाइयों का आकलन है।

हम अपने ही सहूलियत के लिए सोचते हैं कि बीसवीं सदी की शुरूआत में 'यहूदीवादी' धमधमाते हुए आए और उन्होंने फिलिस्तीनियों को सेना के बल पर निकाल बाहर किया। हाँ, जैसे मैंने कहा था, कई अरबों को धक्का खाना पड़ा, पर उन्हें निकलने के लिए आदेश केवल यहूदियों ने नहीं दिए। उस वक्त इस प्रदेश पर तुर्की मुस्लिम – ऑटोमन – साम्राज्य का अधिकार था। अपने ही अरब किसानों के हितों के खिलाफ अपने ओटोमनियों ने ही अपने मन से (किसी दबाव के बिना) बहुत सी ज़मीनें शुरुआत में आने वाले यहूदीवादियों को बेच दीं। जी हाँ, मुसलमानों ने ही यह किया और जानबूझकर किया। सन् 1911 में डेढ़ सौ मशहूर अरबों ने तुर्की संसद् को पत्र लिखकर ये सौदे रोकने की अपील की। किन्तु उस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

पहले महायुद्ध में अरबों ने ब्रिटेन को ओटोमन के खिलाफ इस शर्त पर मदद की कि बाद में पूरा फिलीस्तीन अरबों के हाथों में होगा। इसे कुछ दस्तावेजों में एक 'करार' माना गया था। इसके बावजूद 1917 में ब्रिटेन अपने कथित वादे से मुकर गया। उसने जाहिर किया कि फिलीस्तीन का 'कुछ' हिस्सा यहूदियों को दिया जाएगा, जिन पर यूरोप में उस वक्त कई ज़ोरदार हमले हो रहे थे। अब तो वह 'दोहरा वायदा' हो गया। इस बात पर मुसलमानों ने उन्हें दगाबाज़ कहा है।

एक बार फिर यह कहना पड़ेगा कि हमने सन् 1915 की अपनी ही गलतियों की कमी पूरी नहीं की। उस वर्ष ऑटोमन मुसलमानों के जुल्मों की हद हो गई। **उन्होंने आर्मेनिया के ईसाइयों को देश निकाला, भुखमरी और कत्ल कर के दस लाख ईसाइयों को खत्म कर दिया।** मैंने ऐसा तो कभी नहीं सुना कि उन ईसाइयों ने तुर्की के मुसलमानों से कुछ मुआवज़ा माँगा हो। हमें इस बात पर कुछ गुस्सा ज़रूर आना चाहिए। अ**ब आर्मेनियाई तो केवल इतना ही चाहते हैं कि तुर्की अफसोस जाहिर करे।** शायद हम मुसलमान इसी बात में फँसे हैं कि हमारे साथ जो धोखा हुआ है उसी को पकड़कर रो रहे हैं। दूसरों को हमने जो धोखा दिया उसकी क्या परवाह करनी है। केवल मुसलमान ही नहीं है जिन्हें पश्चिमी देशों से पाबन्दी सहनी पड़ी है। यहूदियों ने भी धोखे का सामना किया है। सन् **1921 में जो ज़मीनें यहूदी 'वतन' के लिए नामजद की गई थीं, उनमें से करीब 80 प्रतिशत काट कर उससे जोर्डन देश बन गया। दो ही साल बाद यहूदियों को दी जाने वाली ज़मीन में से और काटकर सीरिया को दे दी गई।** पर उस समय या आज यहूदियों के साथ जो धोखाधड़ी या वायदाखिलाफी हुई, उससे मुस्लिम रहनुमाओं (नेताओं) को कोई फ़र्क नहीं पड़ा।

क्या आप 'हज–अमीन–अल–हुसेनी' का नाम जानते हैं ? जानना चाहिए। वह सन् 1921 में यरुशलम के 'मुफ्ती' बने और 1922 में 'अव्वल मुस्लिम कौन्सिल' के प्रधान बने। उन्हें तो सही तरीके से कौन्सिल में चुना भी नहीं गया था, लेकिन उसके बाद पंद्रह वर्ष तक कोई चुनाव नहीं कराया गया। उनका एक ही एजेंडा था, फिलीस्तीन से यहूदियों को निकालना। लेकिन इसी के साथ एक के बाद एक कई अरबों को कत्ल कराने में भी उन्हें कोई पीड़ा नहीं हुई। जो उनके खिलाफ हो जाए वह अल्लाह के ही खिलाफ है, वे ऐसा समझते थे। जैसे–जैसे नाज़ियों के जुल्म बढ़ते गए वैसे ही यूरोप से यहूदियों का बाहर जाना बढ़ गया। इसी के साथ **हज अमीन के अत्याचार बढ़ते गए।** ब्रिटिश सरकार के 'पील कमिशन' ने सन् 1937 में फिलीस्तीन में यहूदियों की परेशानियों पर कहा था, 'अगर किसी अरब के बारे में लगता है कि वह 'कौमी प्रोग्राम' से पूरी तरह जुड़ा हुआ नहीं है, तो उसको मिलने के हेतु बंदूकधारी टोली आ जाती है। कई अरबों ने सरकार (ब्रिटिश) से बचाव की मांग की है।'' अगर हम अरबों के अंदरूनी आतंक के लिए यहूदियों को दोष देंगे तो वह एक झूठ ही होगा।

अगले वर्ष जो कुछ हुआ, उसका आजकल तो कोई उल्लेख ही नहीं होता। सन् 1939 में मध्यपूर्व में बारबार हो रही गड़बड़ियों से परेशान होकर और हिटलर का पूरा मुकाबला करने की खातिर, ब्रिटेन ने फिलिस्तीनियों के सामने एक ठोस प्रस्ताव रखा। इसके मुद्दे थे – अरब और यहूदी दस वर्षों में एक ही देश बन कर फिलिस्तीनियों के नीचे उसे चलाएं । इस दौरान यहूदियों के वहाँ आने और ज़मीन खरीदने पर काफी पाबन्दी होगी। स्वाधीन होने पर फिलिस्तीनी अपनी नीति बनाकर बसने हेतु आने वालों पर काबू रख सकेंगे। अब किसी भी नापतौल पर मुस्लिम शासन ही कायम होना था। पर अरबों के प्रतिनिधियों ने कहा, यह पर्याप्त नहीं है। यरुशलम के मुफ्ती से प्रभावित होकर (जिससे ब्रिटेन बात नहीं करता था) अरबों को इससे आधे समय में ही आज़ादी चाहिए थी, नहीं तो लंदन जाए भाड़ में।

लेकिन भाड़ में तो गए आम लोग। मुफ्ती के (हज–अमीन–अल–हुसेनी) आदमियों ने ब्रिटेन का प्रस्ताव ठुकराते समय फिलीस्तीन के किसी किसान या व्यापारियों से कोई सलाह मशविरा नहीं किया। लगता है जनता ने भी इन बड़े लोगों के एजेंडों के खिलाफ दो हाथ करने की ठानी। एक समाचार के अनुसार लोगों को इन अरब विद्रोहियों से कोई सरोकार न था जो यहूदियों का आना रोकना और फिलीस्तीन के लिए अरब सरकार चाहते थे। गांव वाले तो केवल चाहते हैं कि उन्हें अपनी खेती बाड़ी करने दें, शादियां होती रहें और किसी तरह इस कुसमय में अपने खानदान की देखभाल करने दें।

अपने ही मुखियों से सत्ता से वंचित रहने के बाद जनता अब अपने सामान्य जीवन से भी वंचित हो रही थी। आठ वर्ष पूर्व फिलीस्तीनी कमांडों सैनिकों ने यरुशलम के मुफ्ती के खिलाफ एक पोस्टर छापा और हेराफेरी के आरोप लगाए, 'कहाँ हैं वह अकूत धनराशि जो विदेशों से मिली है ? क्या 'हज–अमीन अलहुसेनी' एक भी मस्जिद, मदरसा या

अस्पताल दिखा सकते हैं, जो उन्होंने इस दौरान बनवाया है ? क्या कहीं भी कोई भी यतीम–खाना, सराय, या पानी का हौज बनाया गया है, जिससे गरीब आदमी पानी पी सकें ?''

अब नाज़ियों के समय में क्या हुआ इसको भी साफ कर दें।

क्या मुसलमानों का यहूदियों के कत्लेआम (होलोकॉस्ट) में हाथ था ?

यहाँ हज–अमीन साहब ने ब्रिटेन पर दबाव डाला कि नौकाएं भर–भर कर जो यहूदी फिलीस्तीन आ रहे थे, उन्हें वापस कर दें। कई तो मध्य समुद्र में डूब गए। कई गैस चैम्बरों में मार दिए गए या जला दिए गए। मुफ्ती साहब ने अनाथ बच्चों को भी नहीं बख्शा और उन्हें रोक दिया। उन्हें यह भी अहसास था कि केवल आने वाले लोगों को रोक कर बाद में 'अरब फिलीस्तीन' नहीं बनने वाला था। इसलिए आवश्यक था कि उनके हिसाब से जो जीतने वाले लोग थे, वे मुफ्ती को पहचाने, उनका यकीन करें और उनके काम का सम्मान करें। उन्होंने (मुफ्ती ने) फैसला किया कि यह लड़ाई तो हिटलर ही जीतेगा इसलिए खास उन्हें मिलने भी गए। उनके भूरे बाल और नीली आँखे देखकर शायद हिटलर को भी लगा कि ''शायद हज अमीन भी असली रोमन बुनियादी कौम के ही होंगे।'' फिर क्या था, वह हिटलर के खास मेहमान बन कर बर्लिन मे रहे और वहाँ के इस्लामी केन्द्रीय संस्थान की भी सन् 1942 में स्थापना की। उन्होंने कई चक्कर बाल्कन देशों में भी लगाए जहाँ ये जर्मन गुट की सेनाओं के लिए मुस्लिम जवान चाहते थे। कुछ बाल्कन मुसलमानों ने न केवल उन्हें (मुफ्ती को) ठुकरा दिया, बल्कि कई यहूदियों को पनाह भी दी।

अब यह कहने से पहले कि 'कत्लेआम तो ईसाई यूरोप में हुआ था', हमें फिर से गौर करते हुए शीशे में देखना होगा। कई मुसलमानों ने अपने भविष्य को हिटलर के साथ जोड़ दिया था। सन् 1943 में हज–अमीन ने बोस्नियाई सेना के इमामों के सम्मुख भाषण दिया जिसमें उन्होंने कहा कि ''इस्लाम और नाज़ी विचारों में बहुत मेल है और वह समाज की व्यवस्था, खानदान का गठन, कड़ी मेहनत और एक हमेशा चलने वाली लड़ाई भी साथ–साथ करेंगे, विशेषतया अमरीकी, अंग्रेज़ और यहूदियों के खिलाफ। बर्लिन से ही अपने एक रेडियो पर दिए गए भाषण में हज–अमीन ने कहा, जहाँ भी मिलें, यहूदियों को मार दो। इसीसे अल्लाह, इतिहास और मज़हब की सेवा होगी, इसी से तुम्हारी इज्ज़त भी बरकरार रहेगी, अल्लाह तुम्हारे साथ है।'' इस भाषण का काफी प्रभाव रहा, ऐसा कुछ पत्रों से पता चलता है। चाहे मुफ्ती इस जुए में हार गए पर वह 'मुज़रिम–ए–जंग' (युद्ध अपराधी) बनने से बच गए। उन्हें कैद तो किया गया, पर वह भागकर मिस्र पहुँच गए। नए बने 'अरब लीग' की ओर से उनका बड़ा सत्कार हुआ।

एक और इंजीनियर 'अल–हुसेनी' भी इसी दौरान नेतागिरी सीख रहे थे। वैसे वह हज–अमीन की ही बिरादरी के थे, बाद में उनका नाम 'अराफात' हो गया। ये तरीके उन्होंने कहाँ से सीखे होंगे, यह तो साफ जाहिर है जिसके तहत यहूदियों से शांति वार्ता न करना, अपने ही लोगों को आतंकित करना और उनके उन्नति के लिए मिले धन का अपव्यय (फजूलखर्च) करना शामिल है।

एक और मसला है जिसकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। अंततः इस्राईल कैसे बन गया और फिलीस्तीन क्यों बनते–बनते ही मर गया। सन् 1947 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने प्रस्ताव बनाया कि फिलीस्तीन का विभाजन करके 45 प्रतिशत हिस्से में अरबों का देश, 55 प्रतिशत में यहूदियों का देश और यरुशलम पर दोनों का अधिकार रहे, जिस पर अंतर्राष्ट्रीय निगरानी रहे। अब हम मुसलमान तो इसी बात पर किचकिच करते रहे कि यहूदियों को ज़्यादा क्षेत्र मिल जाता पर यह भूल जाते हैं कि प्रस्तावित यहूदी देश में नेगेव का वीरान क्षेत्र शामिल था और शेष भी बंजर ज़मीन ही थी और जो अरब देश बनाया जाता उसमें बहुत बड़ी संख्या अरबों की ही होती जबकि यहूदी देश में आधे से थोड़े ही ज़्यादा यहूदी होते। जो भी हो यहूदियों ने तो यह प्रस्ताव स्वीकार किया और उसके 6 महीनों के बाद अपनी स्वाधीनता की घोषणा की। पर अरबों ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने इस्राईल के खिलाफ जंग छेड़ दी और उसमें और भी ज़मीन खो दी।

रूस ने पहले तो इस्राईल की मदद की पर अचानक पलट कर उन्होंने 1948 के बाद अरबों को हथियार दिए। मिस्र के प्रधान जमाल अब्दुल नासर अब रूसियों के खास दोस्त बन गए। लेकिन केवल अमेरिका के खिलाफ होना ही काफी नहीं था। नासर ने अपने देश की पूरी उन्नति समाजवाद को हथियार बनाकर करनी चाही। पर उससे केवल सबका विश्वास खत्म हो गया और सन् 1967 की जंग में मिस्र और उनके अरब साथियों को इस्राईल ने करारी हार दे दी। यरुशलम हाथ से गया, फिलीस्तीन सपना ही रह गया और रूसी समाजवाद भी हटने लगा।

अब कुछ सहारा था तो वह था, सऊदी अरब के पेट्रो डॉलर्स (तेल से प्राप्त अमेरिकी मुद्रा) का। 1970 के मध्य में अराफात ने नवीन घोषणा करके 'शहीदों' की सेना बनानी चाही। इस बार उसने कुरान का सहारा नहीं लिया था। 25–30 वर्षों के बाद अब भी जवान फिलीस्तीनी ''जिन्दा बम'' बन कर आत्मघात तो करते रहते हैं पर शहीदों को जन्नत में मिलने वाली हूरों और शराब के बारे में अब मज़ाक भी होता रहता है। जो लोग मज़हब को एक तलवार की तरह चला रहे हैं उनके लिए इस्लाम से कोई नतीजा नज़र नहीं आता।

अराफात के कबीले के एक मंत्री ने उनकी सख्त आलोचना की। कहा, ''लगता है हम सिर्फ बहाने ढूँढते हैं। दुनियाभर से मिला धन और सद्भावना हमने फूंक दी है। इस्राईल के साथ रहते हुए हम आगे नहीं बढ़ना चाहते। एक

कबाइली अंदाज़ में बहते हुए हमने अपने लोग, सरकार और कौम बनने के सपने, सबको धोखा दिया है। यह कबूल करते हुए हमें तुरंत कार्रवाई करनी चाहिए। हमारी इतनी बड़ी जनता के लिए सोचना चाहिए''। उन्हें गोली मारने की तो कोशिश की गई पर अब और कई लोग भी यही बोलने लगे हैं। सब यही मान रहे हैं कि इस्राईल उनके तकलीफों के लिए ज़िम्मेदार नहीं है। बस अब हम ही हैं पश्चिम के लोग, जो इस्राईल को एक भयंकर साँप समझते हैं।

इस्राईल को 'रंगभेद' वाला देश कहकर बदनाम करना भी एक रिवाज़ बन गया है। यदि ऐसा होता, तो क्या वहाँ 20 प्रतिशत मुसलमानों को चुनाव में हिस्सा लेने का अधिकार होता ? क्या उसमें औरतों और गरीबों को भी वोट डालने का अधिकार मिलता ? क्या ऐसा होता तो हज़ारों अरब इस्राईली वोट देने आते ? **क्या वहाँ सबसे बढ़िया किताब लिखने का इनाम एक अरब को मिलता ? क्या वह अपने स्कूलों में हिब्रू बोलने वाले बच्चों को अरबी पढ़ने के लिए भी कहते ?** क्या वहाँ मानव अधिकार वाली संस्थाएं बिना रोक–टोक के काम कर सकतीं ?

सवाल पर सवाल परन्तु कोई जवाब नहीं। आखिर में हम इसी बात पर आते हैं कि यहूदीवाद क्या है ? **यहूदियों के लिए तो यह एक सदियों से सताए हुए और कम संख्या वाले लोगों की घर वापसी ही है।** उसके खिलाफ सोच वाले लोगों के लिए यह केवल 'नस्लवाद' (Racism) ही है। यहूदी देश जिसका बार–बार वायदा किया गया था, बहुत पेचीदा मसला है। इस्राइलियों को अपने अंदरूनी झगड़ों के अलावा रोज़ अरबों से भी झगड़ना पड़ता है। कौन अच्छा कौन बुरा, इसमें कुछ नहीं रखा है। बेहतर होगा कि अगर हम यह पूछें **''कौन है जो ऐसी बात सुनने को भी तैयार है जिसे वह सुनना नहीं चाहेंगे ?''**

यह यहूदी देश सारे तनावों को खुले दिल से निबटना चाहता है। **अपनी बस्तियां बनाने में भी उन्होंने जितनी दयालुता से काम लिया है, उतना शायद वह भी नहीं दिखा पाएंगे जो जुल्म से आज़ाद करने का वायदा करते हैं।**

अमरीकी कुछ भी करें, उनके ऊपर टीका–टिप्पणी होती ही रहेगी। जब इराक पर हमला कर दिया गया तो बगदाद में बहुतों ने जश्न मनाए। एक ऐसे ही जश्न में मुझे कई जवान सेक्युलर मुसलमान मिले जो पूछने लगे, "यह क्या बात है कि सद्दाम के खिलाफ खतरे के पहले ही हमला करने पर कोई बुश या अमरीका की तारीफ नहीं कर रहा है ? अब ऐसी ही रणनीति रसूल मुहम्मद साहब ने भी अपनाई थी जब कुछ लोग इस्लाम के खिलाफ हमला करने का मनसूबा बना रहे थे। अगर उस वक्त ऐसी कार्रवाई मुसलमानों के लिए ठीक थी तो आज अमरीकियों के लिए क्यों नहीं ?''

अब न तो हम मुसलमान रसूल साहब की रणनीति को गलत कह सकते हैं, न ही हमें बुश की वैसी ही कार्रवाई पर निंदा करनी चाहिए। अगर रसूल साहब को ईश्वर की सहायता थी और वह हमला ज़रूरी भी था तो बुश भी एक कट्टर ईसाई है, वह भी यही दावा करेंगे । अब दोनों तरफ तो नहीं झुक सकते ऐसे मामलों में ?

अब कई ऐसे भी मसले हैं जिनको लेकर अमरीकी सरकार और मानवाधिकार वाले गुट भी बदलाव की मांग करते हुए कार्रवाई करने के लिए ज़ोर से कह सकते हैं, **ट्युनिशिया एवं अल्जीरिया में मुस्लिम औरतें गैर मुस्लिम से शादी नहीं कर सकतीं, पर आदमी कर सकते हैं।**

सऊदी अरब में एक 94 साल के आदमी को इसलिए जेल भेजा गया कि उसके यहाँ बहुत से शिया मुसलमान नमाज़ पढ़ने आए थे ! वहां शियाओं को कानूनन दबाया जाता है। दुनिया में ज़्यादातर मुहाजिर इस्लामी देशों से ही निकलते हैं। यह अजीब बात नहीं, क्योंकि दुनिया भर में ज़्यादातर अंदरूनी जंग मुसलमानी देशों में ही हो रही हैं। **ईरान के पत्रकार अमीर ताहेरी कहते हैं, 'अरब देशों ने 1930 से कम से कम पन्द्रह खुली या छिपी जंग की हैं, वह भी एक दूसरे के ही खिलाफ। पिछले दस वर्षों में इस्लामी और उनके दुश्मनों ने एक लाख अल्जीरियावासियों की हत्या कर दी है। फरवरी 1982 में सीरिया के हाफिज असद ने छिपे हुए मुस्लिम आतंकवादियों पर बमबारी करके 2500 को खत्म किया।** लेबनान की अंदरूनी जंग में कम से कम 1,50,000 लोग मर गए हैं, जिनमें ज़्यादातर फिलिस्तीनी थे। इन सबका हिसाब लगाएं तो पिछले 50 साल में इस्राईल के साथ हुई लड़ाइयों में मरे लोगों से यह दस गुना ज़्यादा है। ***(अपनों ने ही अपनो को मारा है)***

यह सब कबूल करने में झिझक हो रही हो तो मेरे साथी मुसलमानों–उससे निकलो क्योंकि हम सब जानते हैं कि हमारे सारे दुखड़े हम अमरीका के सिर नहीं मढ़ सकते। **यह कैन्सर तो हमसे ही शुरू हुआ है।** 11 सितम्बर के हादसे के बाद पाकिस्तान से निकलने वाले 'द नेशन' अखबार में छपे लेख में वहाँ के व्यापारी 'इज्ज़त मज़ीद' ने मुसलमानों में 'बढ़ते हुए अहसास' की बात की है। कहते हैं, ''एक सिविल सोसायटी बनाने में हम नाकाम हुए हैं, क्योंकि हमने अपने ही अंदर वाली ऐतिहासिक, सामाजिक या राजनीतिक भूलों का कोई सामना नहीं किया। इसका एक प्रमाण है इस देश के 14 करोड़ लोगों में से केवल 10 लाख ही आयकर देते हैं। **इस टालमटोल से ही पाकिस्तान दिवालिया हो रहा है, शिक्षा के कार्यक्रम बंद हो रहे हैं और अपने मदरसों से हम आतंकवादी बनाने में मदद कर रहे हैं।**

यह पाकिस्तान क्या बनना था मालूम है ? मैं बताती हूँ। सन् 1947 में आजाद हुए पाकिस्तान के नए–नए गवर्नर जनरल मुहम्मद अली जिन्ना ने अपने ही देशवासियों को उम्मीद दिखाई थी "तुम आज़ाद हो, अपने मंदिरों में आने के लिए, अपनी मस्जिदों में जाने के लिए या किसी भी इबादतगाह में जाने के लिए। चाहे किसी भी मज़हब के हों, किसी भी जाति के हो, हम इसी बुनियादी उसूल को लेकर चलेंगे कि हम सब इस देश के बाशिन्दे हैं। आप पाएंगे कि कुछ ही दिनों में हिन्दू–हिन्दू नहीं रहेगा, मुसलमान–मुसलमान नहीं रहेगा–मज़हब के हिसाब से नहीं, पर सियासी मतलब (राजनीतिक दृष्टि) से क्योंकि सारे इस देश के नागरिक होंगे।"

जिन्ना की बहन फातिमा कई बार उनके साथ पाकिस्तान बनाने की मुहिम में शामिल हुई थी। उनको देखकर मुस्लिम दिमागों में यह फिर से स्पष्ट हो गया था कि औरतें केवल दासी नहीं बल्कि एक बराबर की साथी हैं। **मुझे इस बात की खास खुशी नहीं कि मुसलमानों ने अपना अलग देश भारत से तोड़कर मांगा। पर जब वह मिला था तो उसमें बहुत सी शर्तें भी थीं और बहुत से वायदे भी – हर एक की आज़ादी के वायदे। कितनी लज्जा की बात है कि इस्लामी मज़हब की उठती बाढ़ में पाकिस्तान की मौत हो गई।**

आपको ऐसा नहीं लगता ? सन् 1977 में एक फौजी साजिश के द्वारा जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका भी मदद कर रहा था, जनरल जिया–उल–हक को शासक बनाया गया। अपनी कच्ची पकड़ को पूरी तरह जमाने के लिए उन्होंने चारों तरफ चाटुकार 'मुसाहब मुल्ला' जुटा लिए। **वे प्यार से ज़िया को 'ईमानवालों के कमांडर' कहकर पुकारते थे** जो रसूल साहब के उत्तराधिकारियों (वारिसों) को कहा जाता था। **गांव वाले नेताओं को खुश करने के लिए ज़िया ने इस्लामी कानून के सज़ा वाले हिस्सों में कुछ कबाइली रिवाज़ भी जोड़ दिए।** इसी के तहत हरामकारी (adultery) की सज़ा पत्थर मार कर जान लेना–यह कानून हो गया। और किसी भी बलात्कार के चार आदमी गवाह होना भी जरूरी था ताकि मुलज़िम पर मुकदमा चलाया जाए और अगर इतने आदमी गवाह न हों तो ? **तब तो वह हरामकारी (adultery) ही होगी जिसके लिए औरत ही जिम्मेदार होगी और उस पर पत्थर बरसाए जाएं।**

सन् 1979 में जब ये कानून जोर पकड़ रहे थे तभी **पाकिस्तान के 'अब्दुस सलाम' को उस वर्ष का नोबेल पुरस्कार दो अमेरिकियों के साथ दिया गया। आप सोचते होंगे कि उनके देश ने उन्हें शानदार इज्ज़त दी होगी, पर ऐसा नहीं हुआ।** पाकिस्तानी पार्लियामेंट के एक कानून ने उनकी नागरिकता छीन ली। उनका गुनाह क्या था ? **वह एक अहमदी हैं जो कि इस्लाम में ही एक छोटी जमात है। उसी वजह से दुनियाभर में नाम कमाने वाला मुसलमान वैज्ञानिक अपने ही देश में पराया हो गया।**

मैंने बाद में सुना कि अब्दुल सलाम ने अपने नोबेल पुरस्कार की धनराशि को पाकिस्तान को देना चाहा था, जिससे जवान लोग पाकिस्तानी प्रयोगशाला बनवाकर आगे सीखते। **पर ज़िया ने इसे ठुकरा दिया।** यह भी सुना कि एक किसान के बेटे सलाम ने कई मुश्किलों के बावजूद पढ़ाई की थी। रास्ते के खंबे की रोशनी के नीचे भी पढ़े। यह सही हो या न हो, पर ऐसी बातों से ही सबका उत्साह बढ़ता है जो आगे ले जाता है। **सलाम को 'कचरा' बनाकर उसे ही नहीं और भी जवानों को खत्म कर दिया गया, और यह सब सिर्फ तंग इस्लामी दायरे के जनून में।**

ज़िया के बनाए पूर्वाग्रह अभी भी जिन्दा हैं जबकि वह सन् 1988 में मर गए। इस्लाम मज़हब ने और भी जोर पकड़ा है, गंदी भू–राजनीति के कारण जब 1989 में हज़ारों मुजाहिदीनों ने अफगानिस्तान में रूसियों को मात दी। यही जब फारस की खाड़ी में वापस आए तभी साऊदी अरब को इराक से बचाने के लिए अमरीकी फौजें वहाँ पहुँची। याद होगा कि 1990 में ही सद्दाम हुसैन ने कुवैत पर हमला करके वहाँ डेरा जमाया था। सऊदी अरबों को यही डर था कि ऐसा ही उनके साथ भी होगा। अपनी रक्षा के लिए उन्होंने अमेरिका को बुलावा दिया कि आओ और हमारी जमीन और तेल की रक्षा करो।

अमेरिका के वहाँ आने से इन बेकार मुजाहिदीनों को जरूर एक बहाना मिल जाता और वे सऊदी अरब में ही अपना 'ज़िहाद' शुरू कर देते। पर इसी को टालने के लिए बहुत बड़ी कीमत चुकाई गई। इस्लामी अंजुमनों के द्वारा 'पेट्रोडॉलर्स' का बहाव शुरू हो गया और उसका इस्तेमाल हुआ मदरसे बनाने में – कई गुना बढ़ोतरी हो गई। इसका बहुत बड़ा हिस्सा पाकिस्तान को भी मिला और उसके मदरसों में से मंजे हुए तालिबान निकलने लगे। परन्तु पाकिस्तान के बीच के तबके के मुसलमानों ने क्या किया ? वे भी ज़्यादातर इसी वहशी बुनियादी ख्यालों में बहते चले गए।

पाकिस्तानी राजनयिक अकबर अहमद जो पढ़े–लिखे इन्सान थे, उन्होंने अपनी आवाज़ इसके खिलाफ उठाई। सन् 1997 में उन्होंने जिन्ना के जीवन पर एक चरित्र–फिल्म बनाना शुरू किया। अहमद के कहने के मुताबिक कई बड़े अफसर और फिकरमंद लोगों ने उन्हें सलाह दी कि वह जिन्ना के ''बरदास्ती (Tolerant) इस्लाम'' के बारे में कुछ न दिखाएं। **कई पत्रिकाओं या पार्टियों ने यह भी अफवाह फैला दी कि इस फिल्म का आलेख (स्क्रिप्ट) सलमान रुशदी ने लिखा है। उन्होंने यह भी कहा कि यह प्रोजेक्ट केवल हिन्दू या यहूदी साजिश का हिस्सा है।** अहमद ने यह फिल्म बनाई और दुनियाभर से कई पुरस्कार भी हासिल किए। पर अपने ही देश में अब्दुस सलाम, की तरह ही उन्हें भी बहुत कम सराहना मिली।

11 सितम्बर की घटना के बाद पाकिस्तान के नेता परवेज़ मुशर्रफ ने मज़बूती के साथ कहा था – **जो वैसे तो सबको मालूम है – ''आज मुसलमान इन्सानियत के सबसे गरीब, सबसे अनपढ़, सबसे बीमार, सबसे जाहिल, सबसे पिछड़े, सबसे महरूम और सबसे कमज़ोर लोग हैं।''**

बहुत अच्छे शब्द हैं, विशेषतः उस व्यक्ति के जो अपने वायदों से मुकर गया। **जैसे– 'कुफ्र' के कानून को कम सख्त करने के बारे कहा था, वैसे ही मदरसों को लगाम देने की भी बात करता था। वैसे ही मुशर्रफ में यह कहने की हिम्मत ही नहीं है कि उनके देश के मुल्लाओं से पीड़ित स्कूल से केवल 'बेवकूफ' ही पैदा हो रहे हैं।** अकबर अहमद का अनुभव था – 'जब मैंने मदरसों के उस्तादों को सुझाया कि मशहूर सिगमंड फ्रॉयड और मैक्स वेबर को भी पढ़ा जाए तो मुझे केवल एक नासमझ तीखी नज़र से देखा गया। मैंने यह भी कहा कि **हमारे ही विद्वान् जैसे इतिहास लेखक इब्न खलदूम या सूफी कवि मौलाना रूदमी को भी पढ़ा जाए तो उसे भी नकारा गया।''** अब यह समझ लीजिए कि मुसलमानों को अपने ही ज़हन को बेहतर बनाने से पश्चिम वाले तो नहीं रोक रहे हैं ? **हमारे ही मुसलमान इसके लिए कसूरवार हैं।**

अब नासमझी के लिए अमेरिका भी जिम्मेदार है। सन् 1950 के अंत में अमेरिका के राष्ट्रपति ने कहा था ''हमारे खिलाफ घृणा का अभियान चलाया जा रहा है जिसमें वहाँ की सरकार नहीं, पर अरबी जन साधारण शामिल हैं।'' आम अरब सोचते थे कि केवल 'तेल बहता रहे' इसी मतलब से अमरीका अरबी अत्याचारी सरकारों को सहारा दे रहा है और लोकतंत्र को पीछे धकेल रहा है। अब 50 वर्षों से भी ज़्यादा बीत गए हैं पर वही इरादे, वही तरीका चल रहा है। तालिबान ने अफगानिस्तान पर काबिज़ होकर अल–कायदा को बढ़ाया। फिर भी हम लोग कुछ नहीं सीख रहे हैं।

मेरे मुसलमान भाइयों! मैं तुम्हारी नाराज़गी समझ सकती हूँ। जब उदारमना मुसलमान भी गुर्राते हैं 'हमें तुमसे नफरत है', तब अमरीकियों को समझना चाहिए कि वे जब जुल्म करने वालों के खिलाफ सख्त कार्रवाई नहीं करते हैं तब उन्हीं के हितों की हानि होती है। हम सब चिल्लाना चाहते हैं, ''अमरीका जागो''। पर इसी के .साथ–साथ मैं आप लोगों के लिए यह भी चिल्लाना चाहती हूं ''बचपना छोड़ो–बड़े हो जाओ''– नर्मदिल मुसलमानों को यही बात समझनी और करनी चाहिए कि अमेरिका आज बस एक आशा है जो पूरी नहीं हुई, पर वह मुजरिम नहीं। मैं समझती हूं कि हमें अमेरिका के प्रति विश्वास रखना चाहिए। जैसे साद इब्राहिम ने कहा था, ''अपना रूखापन, संदेह करने का स्वभाव एक तरफ रख दो और कुछ 'करने वाले' बनो। शायद अमरीका को हमारी मदद की आवश्यकता हो ताकि वह मानवता को बेहतर बनाने का अपना सुहावना सपना पूरा कर सकें।

अब वहाँ पहुँचने के लिए मुसलमानों को एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सुलझाना पड़ेगा। हमें बेहतर बनने के लिए किस तरह की मदद चाहिए ? यह क्या निजी मसला है जो बढ़ कर 'सबका मसला' बन गया है ? **जब हम यह समझ लेते हैं कि न इस्राईल और न ही अमेरिका हमारी बरबादी के पीछे हैं, तब क्या इस्लाम ही है इस बदहाली के पीछे ?** इस्लाम ने तो पूरे उत्तरी अफ्रीका से लेकर दक्षिणी एशिया तक सारी ही सभ्यताओं को अपने शिकंजे में बांध दिया है और इन सभी सभ्यताओं में जीवन का स्तर और मानव अधिकार एकदम पिछड़े हुए हैं–सारी दुनिया से पीछे।

तब क्या इस्लाम ही वह बड़ी शक्ति है जो सबको समान समझने की शिक्षा, मस्तिष्क के खुलेपन और लोकतंत्र को दबाती है ? इस सवाल पर न कहना आसान है। पर ऐसा सोचिए – पाकिस्तान, जो कि एक मुस्लिम बहुसंख्या वाला देश है – 1947 में पैदा हुआ, इस्राईल के एक वर्ष ही पहले (जिसमें यहूदी बहुसंख्या है)। अगर जिन्ना साहब के 1947 के कहे गए बयान वाकई सच होते तो पाकिस्तान आज वैसा ही आधुनिक कई सभ्यताओं को मिलाने वाला, पर इस्राईल जैसा ही मज़हब में विश्वास रखने वाला होता। पर इसके बिल्कुल उल्टा हो गया। वह मॉडर्न होने के बजाए पिछड़कर एक जुनूनी हालत में पहुँच गया है। हर देश अपने आधारभूत मज़हबी मापदण्डों से ही सिद्धांतों का दायरा बनाता है। और आज इस्राईल में लोकतंत्र है, यही यहूदीयत के सिद्धांतों के पक्ष में जाता है। **खेद है कि इस्लाम की बड़ी धारा के बारे में हम ऐसा नहीं कह सकते हैं।**

पर इन सबका यह अर्थ नहीं कि 'इस्लाम' ही उल्लेखनीय समस्या है। अब यह देखिए कि दुनिया के लगभग सारे ही मुसलमान–मध्यपूर्व को छोड़कर– लोकतांत्रिक दे ाों में रहते हैं, जहाँ विधिवत् चुनाव होते रहते हैं। इसी बात का ख्याल कीजिए–मुसलमानों को **अपनी इस्लामी सरकारों में बहुत कम आजादी मिलती है और कोई जवाबदेही भी नहीं है।** शायद इस्लाम का लोकतंत्र के बारे जो रुझान (potential) है वह इसी बात से प्रकट होता है कि कुरान कहीं भी ''सरकार कैसी हो'' इस तरफ इशारा नहीं करता। मान लें कि कुरान अल्लाह की ही देन है–पूरा या कुछ–कुछ – क्या यह चुप्पी बहुत मतलब नहीं रखती ? इसमें भी कुछ प्रयोजन होगा ? क्या इसी से स्पष्ट नहीं होता कि हम सबको अपने–अपने स्वतंत्र विचारों से अपनी ही सरकार चलाने में शामिल होना चाहिए? यह बिलकुल सही सिद्ध होगा यदि मुसलमान ऐसी कौम है जो अल्लाह में विश्वास के बूते पर ही खड़ी है। सारे यही कहते हैं कि ऐसा ही है। हमें भी विश्वास है कि ऐसा है। जरूर हम ऐसे ही होंगे।

पर अब मान लीजिए ऐसा नहीं है, शायद हम लोग बस अल्लाह में एतबार से इकट्ठे नहीं हुए हैं, बल्कि किसी एक रेगिस्तानी तहज़ीब को मानने वाले होने से हो गए हैं। **क्या ऐसा हो सकता है कि इस्लाम नकारात्मक और तौर–तरीके वाला ऐसा दब्बू मजहब है जो अल्लाह के तत्त्व–ज्ञान को महत्त्वपूर्ण नहीं मानता बल्कि**

रेगिस्तानी तरीकों को ही मानकर चलता है और मुसलमानों को यही सिखाया जाता है कि जैसे अरबी कबीलों में ताकत के लिए उथल–पुथल या हलचल होती है, उसी की नकल करो। जहाँ शाह हुक्म चलाते हैं और अन्य सारे उसी को सहते रहते हैं। सऊदी अरब के शाह 'फहद' कहते हैं **''दुनिया में जो लोकतंत्र का तरीका है वह 'इस' क्षेत्र के लिए सही नहीं है। इस्लामी मज़हब में चुनावों के लिए कोई जगह नहीं है।''** यह इसलिए कि इस्लाम लीडर को भेड़ों का चरवाहा (shepherd) ही समझता है और उसीका जिम्मा है कि वह अपनी भेड़ों को संभाले। शाह तो मुसलमानों को भेड़–बकरियों के बराबर समझते ही हैं, **साथ ही बिना झिझक कहते हैं कि वह तरीका जो सहराई अरब के लिए ठीक नहीं है, वह पूरे इस्लामी मज़हब के लिए भी ठीक नहीं ।** आप मेरे साथ ही शायद यही कहेंगे कि उन्हे ऐसी कोई व्यर्थ की उड़ान नहीं भरनी चाहिए। **लेकिन यह बिल्कुल साफ है कि मुसलमान इकट्ठा होकर इसके खिलाफ नहीं बोल रहे हैं।** हमको ऐसा अवश्य करना चाहिए, विशेषतः इसलिए कि सऊदी शाह की एक उपाधि है 'दोनों मुकद्दस मस्जिदों–(मुहम्मद साहब के मक्का और मदीना वाले) – के रखवाले''। **यह बताइए कि इन्हें किसने इस्लाम का दरोगा बनाया ? हमने तो नहीं । कौन इनकी मुसाहबी करता है? हम ही करते हैं।** पर इसके बारे में सोचते भी नहीं और बड़ी भारी कीमत चुकाते हैं।

क्या हमें इसी सहराई अरबस्तान के उनकी बस्तियां (कॉलोनिया) बनाने वाले तरीके का मसला ही हल करना है ? ताकि हम सुधर सकें ?

अध्याय–6

इस्लाम का पोशिदा हिस्सा?

कुछ दिन पहले, अमरीकी युनिवर्सिटी में मैंने ''अल्लाह और समलिंगी मैत्री (gays)'' विषय पर एक भाषण दिया। मैं तो ईसाइयत, यहूदी और इस्लाम इन सभी मज़हबों को लेकर विचार बताना चाहती थी। वहां तीनों मज़हबों के (अन्य किसी के भी नहीं) लोगों की भीड़ थी। किन्तु एक गुट जो पूरी तरह तैयारी से आया था वह था ''मुस्लिम स्टूडेंटस असोसिएशन'' (MSA)। उसके बहुत से सदस्य पूरे सभा भवन में चारों तरफ खड़े थे। जहाँ देखूँ वहीं पर वे थे, जैसे इस्लाम का असली चेहरा–संजीदा तेवर।

सवाल–जवाब के दौरान मैंने एक सवाल सबसे पूछा – अगर इस्लाम सीधा रास्ता है तो हमें उसमें अनेक अलग रास्ते (detours) क्यों मिलते हैं ? मेरे एक दोस्त ने अपना 'हिजाब' स्वयं बनाया, जबकि 'पेशावर का सलाम' नाम से एक तस्वीर आई, जिसमें लड़की की सिर्फ आंखें दिखाई देती थीं। यह पूछने का मेरा इरादा था कि इस्लाम हर बात पर साफ–साफ बात क्यों नहीं करता।

इसी बात पर बवाल खड़ा हो गया। MSA के एक मेंबर ने कहा कि 'ऐसे अलग–अलग तरीके इसलिए हैं **क्योंकि पाकिस्तानी लोग असली मुसलमान हैं ही नहीं।** वे तो 'बदलू' हैं, इस्लाम तो अरबों पर ही खुला हुआ था। इस बात को सुनकर उसी के दक्षिणी एशिया के साथी पलट कर पीड़ा और घृणा के साथ उसकी तरफ घूरने लगे। मेरे देखते–देखते MSA चकनाचूर हो गए। दूसरे दिन एक पाकिस्तानी महिला ने मुझे ई–मेल भेजा। मुझे घूरने के लिए माफी माँगते हुए उसने लिखा था – ''मैं पूरी रात सोचती रही कि क्या हम सिर्फ दूसरे दर्जे के मुसलमान हैं ? समलिंगी दोस्ती को चुनौती देना मैं अपना अधिकार मानती हूँ, पर सिर्फ घूर–घूर कर डराने से कुछ बात नहीं बनती। बहस का जवाब बहस ही है। पर मुझे यह नहीं पता कि इस 'अरब कमान' से कैसे निपटूँ। पता नहीं यह 'अरब नस्लवाद' कैसे मेरे ही गुट में आ गया है– और कैसे जाएगा ?''

मेरे टी.वी. प्रोग्राम में भी कई लानत भरी चिट्ठियां आती थीं। बहुत से मेरे मज़हबी विचारों के चिथड़े उड़ाना चाहते थे। एक 'अभिमानी अरब' ने मुझे ''सूअर और भारत की गंवार औरत अनपढ़ कहा था। कैसे बताऊँ कि मैं 'पाकिस्तानी' कहलाने को भी कभी तैयार नहीं थी–हमेशा कहती थी मैं 'अरब हूँ'।

वैसे उस समय मुझे सही मुद्दे का अंदाज़ नहीं हुआ था। अब समझती हूँ – यह तो **'आधारशिला रखने वालों का अधिकार'** था। जब अरब कहते हैं कि उन्हें ही इस्लाम का एजेंडा बनाने का अधिकार है तो इसीसे प्रकट होता है कि इस्लाम में 'बुद्धि की जगह' धमकी ही चलती है। **जैसे अरबी मस्तिष्क सड़ गया है वैसे ही मुसलमानी मस्तिष्क भी सड़ गया है** मानो सभी को इस्लाम के शुरुआती अनुगामियों के साथ–साथ कदम मिलाकर ही चलना पड़ेगा। जब बात होती थी 11 सितम्बर 2001 के धमाकों की, तो मुसलमान प्रायः कहते थे, ''हममें इतनी बुद्धि नहीं है। हम ऐसा कर ही नहीं सकते।'' इसी के साथ 'यहूदी षड्यंत्र' का भी नाम लिया जाता है और आश्चर्य नहीं कि ये बातें वहीं ज़्यादा सुनने में आती थी जहां इस्राईल ही मुसलमानों का विशेष दुश्मन है। अब आहिस्ता–आहिस्ता यही षड्यंत्र वाली बात पाकिस्तान, मध्य एशिया और दक्षिण–पूर्व एशिया में भी फैल रही है। दक्षिण में तो सदियों से कई मज़हबों के लोग इकट्ठा रहते आए हैं और वहाँ के इस्लाम पर तो अरबों का रंग नहीं चढ़ना चाहिए। बस यही हो सकता है कि **आज के मुसलमान एक अंतर्राष्ट्रीय समाज न हो कर एक अरबी कबीला ही बन गए हैं।**

कबीलों में निचले तबके के लोगों को 'शेखों' के प्रति किसी शंका–संदेह के बिना पूरी निष्ठा बरतने की कसम खानी पड़ती है। इसमें ही उनकी निजी सुरक्षा भी है और उनकी पहचान भी। यही कारण है कि फिलिस्तीनी इस्राईल लड़ाई जो कि सिर्फ छोटे से क्षेत्र की लड़ाई है–फिर भी आज दुनिया भर की इस्लामी एकता की पहचान बन गई है। सोच समझ कर आकलन की बात करना अब व्यर्थ ही नहीं, अपितु उसकी सलाह भी नहीं दे सकते। कबीले के नियमों के अनुसार सही संप्रदाय चुनना बहुत मायने रखता है। पुराने पत्रकार 'फरीद झकारिया' ने अपनी किताब Future of Freedom, 2003 में लिखा हैं :–

''इंडोनेशिया के मुसलमान जो बीस साल पहले फिलीस्तीन कहां है, यह भी नहीं जानते थे, आज बड़ी गर्मजोशी के साथ उसको सहारा देते हैं। अरबों का प्रभाव अब घर बनाने में भी आ गया है। इस्लामी दुनिया में अपने घर बनाते समय हमेशा अरबी तरीकों को स्वदेशी स्थानीय तरीकों से मिलाकर ही काम में लाया जाता था–चाहे जावा में, रूस में या भारत में। पर अब मलयेशिया या इंडोनेशिया में वहां के अपने तरीकों को नज़र अंदाज़ किया जाता है क्योंकि वह पूरी तरह इस्लामी नहीं हैं (यानी अरबी नहीं हैं)।

शायद इसी मानसिक बदलाव के कारण से 'धिम्मीपने' का ख्याल पैदा हुआ, जिससे मुस्लिम देशों में यहूदियों और ईसाइयों को बाकायदा दबाया गया। चाहे हम कितने ही उदार हों पर फिर भी हमने कुछ लोगों को हमेशा नीचे तबके

का ही माना है। यही कारण था 'उमर का करार' लिखे जाने का। कुरान में तो गैर मुसलमानों से भी प्यार की बात है। फिर यह कठमुल्लापन (bigotry) की तरफ कैसे मुड़ गए हैं ? मुझे कहने दें – रेगिस्तान में 'बराबरी' हो ही नहीं सकती, क्योंकि कबीले की विशेषता बनाए रखना है।

डॉक्टर सिराज ने मुझसे कहा था 'इस मामले में हमें बहुत कुछ अपने आप को भी पूरी तरह समझने की आवश्यकता है।'' अपने खुलेपन के कारण से डॉ. सिराज को अराफात ने कैद भी कर लिया था। अपने अंदरूनी डर और गुनहगारी के अहसास की वजह से इस्राईल के आक्रांता बनने की बात करके वे अपने लोगों के बारे में कहते हैं, 'हमारे अंदर बहुत कुछ भावात्मक जुनून (psychopathy) है। हमारा समाज पुरुष प्रधान है और उसमें स्त्रियों की कोई भूमिका नहीं है। न ही उन्हें कोई बात करने की आज़ादी है– एक डरावना माहौल है। यह तो कबीले का तरीका है कि अलग सोच का मतलब है बगावत या धोखा। अरब देशों में हम अभी तक ऐसा तरीका कायम नहीं कर पाए हैं जिसमें सभी लोग कानूनन बराबर हों। बहुत गंभीर मसला है।

और मैं इसे मानती हूं। रामल्ला में राजा शाहदेह अपने मन की बात नहीं कह सकता क्योंकि वहां के उलझे हुए रिश्तों की वजह से वह किसी भी खतरे को नहीं चाहते। अगर तुम कहीं सबकी नज़रों में आ गए तो जान खतरे में है। तुम्हारा भाशण भी तुम्हारा अपना नहीं है – वह तो कबीले की मिल्कियत है। तुम्हारी इज़्ज़त भी अपनी नहीं–अगर गलती हो जाए तो तुम्हारे रिश्तेदारों या पूरी जमात का भी अपमान है।

शायद रेगिस्तानी कबीलों के शिकंजे की वजह से ही आत्मघाती बमबारों को जुल्मी अरब शाहों के खैरात पर जीना मरना पड़ता है। कबीले में सारी खैरात शेखों की मर्जी पर ही बंटती है और इसी रेगिस्तानी तरीके में जब किसी खानदान की बदनामी होती है तो उसके बदले में औरत की इज्ज्त लूटी जाती है क्योंकि उस पर अपने खानदान का स्वामित्व है, इसी लिए उसे बेइज्ज़त करके उसके खानदान को भी बेइज्ज़त करने के बराबर हुआ। औरतें तो इन खानदानों के खूनखराबे में केवल एक प्यादा–सा रह जाती हैं।

आपमें से ही कुछ लोग कहेंगे, यह तो इस्लाम नहीं है। मुसलमानी रिवाज़ों में कुछ मज़हबी और गैर–मज़हबी तरीके भी शामिल हैं। हां, ठीक है। इसीलिए अब सवाल उठता है कि 'क्या इस्लामी रिवाज़ों से रेगिस्तानी तरीके हटाए जा सकते हैं ? अगर नहीं तो हमारे सुधरने की कोई गुंजाइश नहीं है।

आप इस बात पर गौर कर रहे हैं, तब तक एक और चुनौती। अगर मजहब को स्थानीय रीति रिवाज़ों से–कबाइली रिवाज़ों से अलग करना इतना मुश्किल हो, तो क्या यही सच नहीं कि इस्लाम का कुछ गहरा ताल्लुक कबीलों से ही है? हर मज़हब में कुछ खास बातें होती हैं, रुह और दिमाग के गुटों की, कबीलों की। हमें जो बेनकाब करता है–सो है वह रेगिस्तानी कबीलों के तौर तरीके–जिनसे आम आदमी की हैसियत एकदम नीचे चली जाती है।

मिस्र के एक लेखक हैं, गबर असफूर। वह इस बात से परेशान से हैं कि उनके देश में जो खुशनुमा माहौल होता था, जिसमें आपसी बातें होती थीं, हंसीमज़ाक होता था, वह इस 'रेगिस्तानी इस्लाम' के छिपे हमलों में खत्म हो रहा है। कहते हैं, ''हमारे बाज़ारों में, गलियों में जो सबको शामिल करते हुए बातचीत होती थी, उस पर यह इस्लाम पाबंदी लगाता है। जैसे सातवीं सदी का बदायूनी हर मोड़ पर छिपे दुश्मनों से, घात से डरता था, वैसे ही यह कट्टर इस्लाम सभी 'दूसरों' पर शक करते हैं । उनसे नफरत करते है, इन 'दूसरों' में यहूदी भी हैं, ईसाई, पि चमी या औरतें भी हैं। इन लोगों के लिए औरतें तो लालच और बला की जड़ हैं। और यह बेरहम इस्लाम फैलाने में हाथ रहा है सऊदी अरब के तेल–डॉलर का''। पर मैं तो मानती हूं कि ये तौर–तरीके तो बहुत पुराने हैं–हम मानें या न मानें। इसकी मिसाल है–बांग्लादेश की 'तस्लीमा नसरीन' – औरतों के बारे में लिखने वाली डॉक्टर, जिन्हें बांग्लादेश ने बाहर निकाल दिया। उन्होंने मुझे एक ठोस मिसाल दी, जो सऊदी लोगों के अमीर होने के पहले की है। कहती है, ''मैं जब छोटी थी तब मुझे बताया गया था–अल्लाह सब कुछ – यानी सब कुछ ही जानता है। फिर तो अल्लाह को बांगला ज़ुबान भी तो मालूम होगी? है न ? मैंने अपनी माँ से पूछा,''मुझे सिर्फ अरबी भाशा में ही क्यों इबादत (पूजा) करनी पड़ेगी ? मैं जब अल्लाह से बात करना चाहती हूं, तो मुझे दूसरे किसी की ज़बान क्यों इस्तेमाल करनी पड़ेगी ? मां ने कोई जवाब नहीं दिया, बस वही हमेशा वाली बातें जैसे – हदीस में लिखा है जब मर जाते हैं तो फरिश्ते आकर रुह से सवाल करते हैं, उसका जवाब अरबी भाशा में ही होना चाहिए, नहीं तो तुम्हारी कब्र तुम्हें दबा देगी। अब इन 'फरिश्तों' को बांगला भाषा क्यों नहीं आती? ऐसा लगता है जैसे अल्लाह मुसलमानों के दिलों में जबरन घुस कर बस गया है।

इस अरबी भाशा के प्रति इतनी गाढ़ी भक्ति (रेवरेंस) से मुझे अपनी मदरसे की पढ़ाई याद आ गई। यह बात मुझे समझ नहीं आती–सिर्फ ज़बान ही नहीं भक्ति करना भी। क्या ईसाई एक–दूसरे को 'ग्रीक' (यूनानी)न जानने के लिए बेइज्ज़त करते हैं – जिसमें पहले न्यू टेस्टामेंट लिखी गई थी। ऐसे ही पहले ईसाइयत सिर्फ लेटिन भाषा में ही समझी जाती थी, जिससे वैटिकन के पादरियों को अपनी ताकत मिलती थी। मुसलमानों का तो कोई वैटिकन नहीं है। पर उससे क्या ? मुझे भी तस्लिमा नसरीन की ही तरह बताया गया था कि अल्लाह से अरबी ज़बान में बात करो–जो मेरे लिए ग्रीक के बराबर ही थी। क्यों अरबी भाशा ऐसे किसी बदलाव को नहीं मानती? हां, रसूल साहब के लिए अल्लाह का पहला हुक्म था **'पढ़ो'**। और उसने अरबी पढ़ी ? पर यह बात तो ज़ाहिर है कि मुहम्मद साहब अनपढ़ थे। सभी

मुसलमान जानते हैं। अल्लाह के हुक्म से पढ़ पाना तो एक चमत्कार है। इससे अरबी भाशा की तो कोई हुकूमत पैदा नही हुई थी?

मुझे लगता है कि इस्लाम में अरबी सभ्यता वाले साम्राज्यवादी अल्लाह से सर्व ाक्तिमान (Almighty) के ओहदे के लिए मुकाबला करते हैं। कुरान में कहा है, **''पूरब–पश्चिम दोनों ही अल्लाह के हैं। जिस तरफ भी मुड़ जाओ, वहीं पे अल्लाह की सूरत है।''** फिर क्या वजह है कि मुसलमानों को मक्के की तरफ मुंह करके ही दिन में पाँच बार झुकना पड़ता है ? क्या इसी से ज़ाहिर नहीं होता कि यह रेगिस्तानी चाबुक की ही मार है ? आप मुझे चाहे सिर्फ ऊपरी सतह पर सोचने वाली कहिए – मुझे तो यह भी लगता है कि 'क्या पहनना चाहिए' इस पर भी रेगिस्तानी कबीलों की ही छाप नज़र आती है। अरब के बाहर – पश्चिम में भी, लाखों औरतें बुर्का पहनती हैं। वे मानती है कि यह भी एक मज़हबी (spiritual) समर्पण है। ईरान की औरतें जो 'चादर' पहनती हैं, जिससे ज़रा भी बाल नज़र न आए उसका डिज़ाइन लेबनान के एक शिया मुल्ला से मिला था। कुरान में बुर्का ओढ़ना सिर्फ रसूल साहब की बीवियों के लिए ज़रूरी किया है। **ऐसा कहीं भी हुक्म नहीं है कि सारी ही औरतें बुर्का पहनें। और ऐसा होना भी क्यों चाहिए ?** पर्दे से औरतों को रेत और गर्मी से राहत मिलती है पर उसकी ज़रूरत है तो सिर्फ अरब, सहाराई अफ्रीका या ऑस्ट्रेलिया के वीरानों में। जिसका मतलब है मज़हबी ज़रूरत पूरी करने के लिए तहजीब वाले कपड़े पहनना – मेरे बंद गले का स्वेटर और टोपी पहनने से भी ठीक है। अब मैं अपना मुंह ढक लूँ **क्योंकि वैसे ही करना है,** यह तो रेगिस्तानी अरबों की एक फतेह है, जिनके तरीके अब सारी मुस्लिम औरतों के लिए ''सही नमूना'' बन गए हैं।

रेगिस्तानी लोगों के कपड़े, ज़बान या इबादत (पूजा) का तरीका–इन सबकी सिर्फ नकल करने से उस अल्लाह के पास तो नहीं पहुंचेंगे। पर सदियों से चले इस्लाम के बारे में जो झूठ फैलाया गया है उससे आपको सही जानकारी ही नहीं होती हैं। इन झूठी बातों ने गैर–अरब मुसलमानों को उनके अरब मालिकों के 'ग्राहक' ही बना दिया है। जो भी इस्लामी 'जानकारी' के नाम से बेचा जाएगा उसे खरीदना ही पड़ेगा।

इन अफसानों में मुझे जो सबसे ज्यादा खलता है, वह है, 'जाहिलियत' का ख्याल–वह दिमागी या चरित्र का अंधेरा (मोरल डार्कनेस) जो इस्लाम के आने के पहले था – ऐसा कहते हैं। यह तो मानते हैं कि सातवीं सदी में अरबी देशों में दंगा–फसाद और बेअदबी सब तरफ फैली थी और उनमें एका करने वाले मज़हब की जरूरत थी। लेकिन कुरान तो इस जाहिलपने की बात सिर्फ अरबी इतिहास के बारे में करता है। अब नाटक यह है कि अरबों ने यही सोच कायम की है कि जितने भी गैर–अरब कौमों पर फतह हासिल की, वह सारे ही ज़ाहिल थे। इन सभी ज़मातों को यही बार–बार बताया गया है कि मुहम्मद साहब के पहले की सब जानकारी या इल्म खुदा का अपमान है – कुफ्र है और यह सारे ही मुसलमानों को लागू है, वे कहीं भी रहते हो। इसी वजह से तस्लिमा नसरीन की माँ भी एक मज़हबी 'रोबोट' (यंत्र–मानव) बनी थी और एक गुनहगार की तरह अरबी भाशा रटती रहती थीं।

फरीद झकरिया की तरह ही विद्याधर नायपॉल ने भी, इसके परिणाम बड़े पैमाने पर देखें हैं। कई साल पहले उन्होंने अपने ईरान, पाकिस्तान, मलयेशिया और इंडोनेशिया की यात्राओं के बारे में लिखा है। इन देशों में यूरोपी बस्ती बनाने वालों के खिलाफ चल रही लड़ाइयों के वर्णन करके वे कहते हैं, ''यह बस्तीबाज़ी (साम्राज्यवादिता) कहीं भी इतना पुख्ता नहीं थी, जितना कि अरबी मज़हब के आने के साथ हुई थी। अरबों में यह नियम था कि जो भी पहले (उनके पहले) था, वह खुदा के खिलाफ था, गलत था। मुहम्मद के पहले क्या था, कैसा था, इसके लिए इनके दिमाग में कोई जगह न थी।''

मैंने कई मुसलमानों को कहते सुना है कि नायपॉल एक 'नस्लवादी' है। बड़ी अजीब बात है, क्योंकि उनकी बात सुनने तो साफ हो जाता है कि मेरे मदरसे में कभी यहूदी या ईसाई रिवाज़ों का ज़िक्र ही क्यों नहीं आता था जिनसे इस्लामी रिवाज़ निकले हैं। अगर इनका असर हम मानते हैं तो उसका मतलब तो यही होगा कि इस्लाम के पहले दुनिया में पूरा अंधेरा या बेवकूफी नहीं थी और **अरबी मुसलमानों ने उनके पहले वाले मज़हबों से बहुत कुछ लिया है, इस्लाम भी अलग–अलग मज़हबों को मिलाकर ही बना हैं। वह कोई इन्कलाबी मज़हब नहीं है।** लेकिन ऐसा कहना तो क़बीले के खिलाफ जाना है और वह तो नहीं मान सकते ना? पर शायद मान भी सकते हैं। वही बात लीजिए–जिस पर बहस की मनाही है। क्या कुरान भ्गुरू से आखिर तक अल्लाह की ही देन है ? इस्लाम के पहले कई वर्षों में अरबों ने अल्लाह के नाम पर बड़ी जीतें हासिल कीं और अपने नए मज़हब के बारे में सोचने का वक्त ही नहीं था। शायद कुरान के बनाने के पीछे कुछ साम्राज्यी दबाव भी रहा होगा। 'एटलांटिक मंथली' में एक खोजी लेख छपा था, ''कुरान क्या है ?'' कहानी थी – एक फौजी जनरल ने रसूल साहब के तीसरे जानशीन उथमान को खतरे का संदेश दिया–''यह तबदीली वाले मुसलमान (converts) कुरान में क्या लिखा है – इस पर बहस कर रहे हैं। इन लोगों को काबू करना जरूरी है, नहीं तो वह भी यहूदी या ईसाइयों की तरह ही हो जाएंगे।'' खलीफा उथमान ने फौरन कार्रवाई करके कहा कि **जो भी याद किया हुआ है या अलग–अलग पर्चों में लिखा है, उसे इकट्ठा करके**

एक ही 'कुरान' बनाया जाए। जो भी इसके बाहर हो या 'खराब' हो उसे खत्म किया जाए।'' अब इस पर भी सवाल उठता है कि जल्दबाज़ी में किए इस फैसले के बाद भी बना कुरान अगर पूरी तरह बढ़िया (perfect) न हुआ तो ?

यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि कुरान में कई कमियां हैं। जिस तरह अरबी साम्राज्य बढ़ गया था, उसमें कई अपनी ही ज़रूरतें होंगी, जिससे मज़हब ही साम्राज्य का नौकर बन गया हो। होना चाहिए इसके उलटा। क्या यह संभव नहीं कि राजनीतिक दबाव या इरादों से कुरान की कुछ आयतों में कुछ फेर–बदल किया गया हो ? और वह अरब सिपाहसालार जो अपने नए मज़हब की तुलना में कबाइली तरीकों से ज़्यादा वाकिफ थे, उन्होंने अपने जाने हुए तरीकों को इस्लाम से भी जोड़ दिया हो ? यह समझना तो आसान है कि रेगिस्तानी अरबों का यह तरीका ही 'सही इस्लाम' की शक्ल ले लेगा। ना ही यह समझना मुश्किल है कि ऐसा बदला हुआ मुनासिब (औचित्यपूर्ण) इस्लाम ऐसा आज्ञाकारी इस्लाम हो जाएगा, जो सिपाहियों का ज़्यादा और ख़ुदा का कम आज्ञाकारी होगा।

शुरूआत में तो यह कबाइली शिकंजा कुछ ढीला था और इस्लाम में होशियारी और कलाकौ ाल का महत्व था। वर्ना उस सुनहरे वक्त की भाुरूआत ही न होती, जिसमें व्यापार, चर्चाएं और रीति रिवाज़ो का लेनदेन होता था। जिसमें 'अल–किन्दी' जैसे, उदारमना वैज्ञानिक और दा ार्निक ने कहा था ''मैं अपनी पुरानी पीढ़ियों का और बाहरी लोगों का शुक्रगुज़ार हूं, क्योंकि वे न होते तो हम चाहे जिन्दगी भर मेहनत करते, फिर भी सच्चाई के असूल इकट्ठा नहीं कर सकते थे।'' ऐसा होने के लिए क्या था जो सही था? शायद आने वाले समय का ख्याल ?

बराबर हासिल हुई फौजी जीतों की वजह से अरबों को लगा कि उनका आने वाला वक्त भी ऐसे ही बुलंद और सुदृढ़ रहेगा। इसी का मतलब था कि इस्लाम को ज़्यादा सख्ती या कड़ा रुख अपनाने की ज़रूरत नहीं थी। अच्छा यही था कि इस्लाम कुछ लचीला हो ताकि जोश से बढ़ता हुआ साम्राज्य अच्छे से संभाला बढ़ाया जा सके। हां–मज़हब और सियासत तो अलग नही कर सकते थे, पर शोहरत और ताना ाही सल्तनत तो अलग हो सकते थे। जब यही अहसास हुआ, तो उमंगवाले अमीरों ने उस वक्त के सबसे होशियार लोगों को काम में लगाया। इनमें यहूदी और ईसाई तो थे ही, पर गैर–अरब मुसलमान भी थे। यह गैर–अरब ही थे जिन्होंने इस्लामी कानून के बड़े हिस्से को तैयार किया। करीब 135 सोचविचार वाले स्कूल जल्दी ही शुरू हो गए। शायद यही सीखना चाहिए कि अरबों ने अपने पुराने कबाइली ख्याल और आनेवाले कई मज़हबों के तौर तरीकों का तालमेल बिठाया।

अगर ऐसे था तो दूसरा निश्कर्श पैदा होता है जब अरबी मुसलमानों का साम्राज्य खत्म हुआ तो यह पुराने और आनेवाले वक्त के बीच का तालमेल खत्म हुआ; वैसे ही कबाइली सोच और खुले रिवाज़ों का तालमेल भी खत्म हुआ। सब तरफ से हार का सामना करना पड़ा। इसी से पुराने काबिल अरब सिपाही या सिपाहसलारों का अपमान हुआ। इसी के साथ उनकी दिमागी हालत भी खराब हो गई।

तेरहवीं सदी में मुगलों ने लाखों पुरानी हाथ की लिखी किताबें तिग्रीस नदी में फेंक दी। कहते हैं 'कई दिन उसकी स्याही और खून से नदी काली हो गई थी। उधर ईसाई क्रूसेडरों ने बिशपों के हुक्म से कुछ 80 हज़ार किताबें जला दीं जिसमें ज्ञान के भंडार थे। शायद अरबों को अपना भविश्य दिख रहा था, डूबा हुआ, या जला हुआ। उन्हें अब शायद एक दर्द मिटाने वाला मरहम चाहिए था।

अब रेगिस्तानी अरब एक ही खास चीज़ पर अपना हक जता सकते थे, वह यह कि ''इस्लाम की बुनियाद हमने रखी, कुरान अरबस्तान के बीच ही उजागर हुआ, जो कि अरबों की ज़बान में ही था, इसीलिए अल्लाह के 'आखिरी' हुक्म भी अरब के लोगों पर ही खुलेंगे। और वह हमेशा के लिए उन्हीं की कब्ज़े में रहेंगे। उनके जितना कोई भी और ज़्यादा निकट नहीं हो सकता था, चाहे जमीनी तौर पर या मज़हबी तौर से।'' इसी बात में इज्जत थी, शायद इतने बड़े गिरावट के बाद छुटकारा भी। पर इसी मरहम में एक खतरनाक बम भी छिपा था। पहले गुज़रे हुए और आने वाले वक्तों में जो एक नाजुक रिश्ता था, वह खराब और खत्म हो गया। अब सिर्फ एक ही सोच बचाव के लिए रह गई कि हमारे अतीत को कैसे बचाए और इस्लाम की नींव हमने रखी यह हक कैसे कायम रखें। इसी को मैं **'बुनियादी–जनून'** कहती हूं।

इस जनून के कई दर्दनाक नतीजे भी है। इस्लाम के मज़हबी तबके के लोगों को ही अब इस्लाम के रखवाले माना जाने लगा। इज्तिहाद या खुली सोच के दरवाज़े 12वीं सदी तक बंद ही हो गए और मुफ्तियों के हाथ में ही सच–झूठ की पहरेदारी आ गई। सच्चाई जैसे–जैसे सिकुड़ती गई, उनके अधिकार बढ़ते ही गए। वे विद्वान कम और सिपाही ज़्यादा हो गए। किसी भी किस्म के ईज़ाद करने वालों पर पहले शक और बाद में तो मनाही कर दी गई। बुनियाद के रखवाले यही लोग अब कुरान ओर हदीस में इसी बात की खोज करने लगे कि ऐसा सबूत मिले, जिससे यह बात पक्की हो कि कुछ भी ज़्यादा ज्ञान ढूंढना मना है। उन्हें रसूल साहब के बोल मिले, **''नई चीज़ों से खबरदार**

रहना क्योंकि हर नई चीज़ एक इज़ाद है ओर हर इज़ाद एक गलती।'' अपना आने वाला कल बनाने के लिए कितना बढ़िया तरीका मिल गया है न ?

अगर ईज़ाद पर रोक लगनी ही थी, तो वह अरब तक ही होनी चाहिए थी। पर ईज़ाद खिलाफी दूर–दूर के मुसलमानों पर भी असर कर गई। जैसे सन् 1579 में इस्तांबूल में एक वेध ाला (Observatory) बनाई गई और एक ही साल में सन् 1580 में उसे मुल्लाओं ने तुड़वा दिया। कितनी गिरावट थी – कुछ ही सदियों पहले एस्ट्रोनॉमी, गणित, चिकित्सा और कई कला कौ ाल में इस्लाम पूरी दुनिया के आगे था।

सन् 1728 में इस्तंबूल में ही एक इब्राहीम ने पहला छापाखाना खोलने के लिए अर्जी में कहा था, ''पहले मुसलमान सभी साइन्स में पि चम से आगे थे, वह अंधेरे में डूबना नहीं चाहिए'' कुछ दिन तो छापाखाना चला, फिर 1745 में उसे मुल्लाओं ने बंद करा दिया।

इस्लाम में कुछ गुट अलग सोच रखते थे, जैसे इस्माइली (शियाओं का एक हिस्सा) कहते थे, जहां भी सच मिले, उसे ढूँढना चाहिए। सूफियों को जीज़स से काफी लगाव था, प्लेटो और अरस्तु से लगाव रखने वाले 'फैलासुफ' पूरी दुनिया के लिए मज़हब ढूँढ रहे थे। पर ये सारे लोग सिर्फ बाहरी किनारे पर ही थे। **रेगिस्तान से दूर रहने वाले लोग इस्लाम के तौर तरीके नहीं बनाते थे। इन्हें अरब ही बनाता था।** इसकी एक मिसाल देखें–उन्नीसवीं सदी के बीच में रेगिस्तानी मुल्लाओं ने ओटोमन साम्राजियों (तुर्की) पर ज़बरदस्त दबाव डालकर उन्हें तीन अहम मुद्दे वापस लेने के लिए मजबूर किया। ये मुद्दे थे–

- ◆ अफ्रिकी गुलामों के धंधे से मुसलमानों को हटाना
- ◆ औरतों को बुर्का–पर्दा से आज़ाद करना,
- ◆ काफिरो को रसूल के देश में रहने देना।

मक्का के बड़े मुल्ला ने ऐसी कार्रवाई करने की सोचने वालों के खिलाफ एक फतवा भी निकाला। उसमें कहा था, **''गुलामी बंद करना शरियत के खिलाफ है'' औरतों का बेपर्दा होकर घूमना, उनके हाथ में तलाक का अधिकार होना ऐसी चीज़ें पाक कानून के खिलाफ हैं। ऐसी बातें कहने वाले तुर्क भी काफिर हैं और उनके बच्चों को गुलाम बनाना जायज़ है।''**

तुर्की बदलाव तो चाहते थे, फिर भी उन्होंने अरबी मुल्लाओं को मना लिया। तुर्की आला मुफ्ती ने उन्हें तसल्ली दी ''कुछ बद्तमीज़ ओर लालची लोगों ने अजीब झूठी और मनगढ़ंत बातें फैलाई हैं। अल्लाह हमें महफूज रखे।'' मैं महफूज पर ज़ोर दे रही हूं, क्योंकि इस्लाम को पत्थर जैसा बनाना ही इन 'बुनियादी–जनून' वालों का इरादा है। जैसे–जैसे मुस्लिम कौम यूरोप के फौजी या आर्थिक कौ ाल से पिछड़ गई है, तब से इन बुनियादी जनून वालों के हौसले बढ़ गए हैं।

इस पागलपन का सबसे दर्दनाक नतीजा यही है। मजहब को नया या बेहतर बनाने के लिए हर वक्त सिर्फ पीछे ही देखा जाता है। कितना पीछे ? चौदहवीं सदी तक, जब मुस्लिम साम्राज्य गैर–अरब हाथों में जाने लगा। उस वक्त के दमि क के तथाकथित ''सुधारवादी'' **अहमद–इब्न–तामिया ने मुगल हमलावरों को मज़हब छोड़ने वाले करार दिया,** क्योंकि उन्होंने इस्लाम कबूल करने के बावजूद शरिया की जगह अपने ही कानून कायम किए थे। **तामिया के हिसाब से रसूल मुहम्मद के वक्त मज़हब और सरकार में कुछ भी फर्क नहीं था,** जिसका मतलब हुआ कि मुगलों ने कुछ नया तरीका ईजाद किया जो कि माना नहीं जा सकता। अहमद–इब्न–तामिया का चाबुक और ईजादों पर भी पड़ा–जैसे मुस्लिम फलसफा, सूफी तरीके, शिया इस्लाम – वगैरह। क्यूं कि सारे ही रसूल साहब के बाद किए गए ईज़ाद थे। चाहे तामिया को कई लोग बागी कहते हैं पर उसके सोच ने कई आने वाले सुधारकों को प्रोत्साहित किया। कुछ मिसाल दूं ? 1950–60 में मिस्र के एक सैयद कुतब ने तामिया से सीधा सबक ले लिया। जनरल नासर ने आखिर उसे फांसी पर चढ़ाया, पर पहले कई साल जेल में रखा। कुतब के जेल से लिखे गए दस्तावेज आज के ''मुस्लिम ब्रदरहुड'' में जान डाल गए। जिसका मैं पहले ''कुरान और पिस्तौल'' के नाम से जिक्र कर चुकी हूं। यही गुट है जो 9/11 (सितम्बर 2001) के बदनाम मुहम्मद अट्टा के साथी थे।

और बताऊँ, कुतब के एक भाई को देश निकाला दिया गया था। उसी ने ओसामा–बिन–लादेन को सऊदी अरब में पढ़ाया था। क्या पढ़ाया ? यही कि इब्न तामिया ऐसे वक्त में उभरा था जब **''बाहरी हमलावर''** घुस आए थे और उसके मरने पर मुगलों से नफरत करने वाले अवाम में बड़ी तारीफ हुई। तामिया के सात सदीयों बाद, आज लादेन अपने जहरीली भाशणों में रसूल के देश में घुसे **बाहरी लोगों** की बातें करता है।

आज के हमलावर अम्रिकी हैं। पेंटागॉन ने कहा तो है कि बहुत से अमरीकी सिपाही सऊदी अरब से कतार चले जाएंगे। पर तामिया के तालिब तो यही कहेंगे कि एक से दूसरे देश में जाने से अमरीकी फौजों का गुनाह कम नहीं होता। कतर भी अरबस्तान के जज़ीरे का ही हिस्सा है। 'रियाध' को इन ईसाईयों को आने देने की जिम्मेदारी लेनी ही पड़ेगी। लादेन उन्हें क्रूसेडर कहता ही रहेगा, चाहे उन्होंने कोई भी 'ईसाइयत' न दिखाने का वायदा निभाया है।

ओसामा बिन लादेन तो यही कहेगा कि सऊदी और बड़े शैतान में सुलह हो गई है और इसी से ज़ाहिर है कि ये दोनों ही कितने नापाक हैं। अमरीका पर तो फतेह करनी ही है, साथ में ही उन्हें पनाह देने वाले सऊदियों को भी। लादेन का मिशन तो तय है। इन दोनों कौमों से मुसलमानों को बचाकर वह इस्लाम के बुनियाद के मौके को, और साथ–साथ रसूल साहब के ज़िंदगी से कुछ चुनिंदा हिस्सों को भी ताज़ीम दे रहा है, उन हिस्सों की नकल भी कर रहा है और उन्हे अपने इरादों के लिए इस्तेमाल भी कर रहा है।

लादेन की तकरीरें शायद उन मुसलमानों को पसंद आती हैं, जो अपने जिस्मानी मौजमस्ती करने वाले नेताओं से नफरत करते हैं। उसका 'बुनियादी जनून' भी शायद आम मुसलमानों के आज़ादी के सपने पूरे करे, पर यह समझना चाहिए कि उसके बेहतरी के वायदो में बेहतरी नहीं है। उसका 'इस्लाम' उन सारी मुश्किलों और दबावों को और भी सख्त कर देता है, जिससे मुसलमान अरबी हुकूमत से आज भी दबे पाते हैं। उसका अपना ही कबाईली मज़हब है। उसमें एकमत के बजाए एक जैसे दिखने की इच्छा है। अपने आप सोचना मंजूर नहीं, सिर्फ दुबाशियों की टोलियां ही दिखती हैं। ओसमा–बिन–लादेन साम्राज्यवादियों के खिलाफ कोई भी कार्यक्रम का एजेंडा नहीं देता, बस वही रेगिस्तानी हुक्मशाही ही लगाना चाहते हैं, फिर से।

यह सोचिए कि लादेन के मिशन की शुरूआत कहाँ से हुई ? सऊदी अरब से। वह सिर्फ वहाँ के नेताओं के खिलाफ है, उस देश से नहीं। यह समझना ज़रूरी है क्योंकि सऊदी अरब की नींव ही मज़हबी और राजनीतिक मामलों पर रखी गई थी। सन् 1750 के आसपास वहाँ के कबीलों के एक सरदार मुहम्मद इब्न सऊद ने मज़हबी सुधारक 'अब्द–अल–वाहाब' से मिलकर सांठगांठ बनाई। उसने उसे कहा– मेरा इरादा है कि इस मुल्क के टुकड़ों से एक कौम बनाना, अगर मेरे इरादों को तुम से मज़हबी आशीर्वाद मिले, तो मैं तुम्हें इस कौम का मज़हबी पथ प्रदर्शक बना दूँगा। इसे अल–वाहाब ने मान लिया। उस पर इब्न तमिया का भी प्रभाव था और उसके **''बेहतर' इस्लाम''** से ही लादेन प्रभावित है। इस **''बेहतर' इस्लाम''** में आदमी की सोच विचार की भाक्ति खत्म कर के मज़हब को बहुत ''सीधा'' बनाया। **उसका इरादा है, हमेशा जिहाद चलाना।** इसी बात का सहारा लेकर इब्न सऊद और उसके वारिसों ने दो सौ साल तक आसपास के सारे क्षेत्रों पर हमले करके कब्ज़ा कर लिया। सन् 1932 में तुर्की ऑटोमन साम्राज्य के टुकड़ों से ही 'सऊदी अरब' उभरा। इब्न सऊद का मज़हबी नेता वाहाब से जो करार था, वह तो कायम रहा। साथ ही उनका 'जिहादी' सिद्धांत भी कायम रहा। **इन्हीं दो बातों यानी 'बेहतर इस्लाम' और 'हमे□ा का जिहाद' को लेकर सऊदी अरब ने मुसलमानों को हमे□ा के लिए काबिज़ रखने का ''वाहाबी'' तरीका बना रखा है।**

हर साल 'हज' की कई तस्वीरें निकलती हैं जिनसे बाहरी तौर पर यही नज़र आता है कि हज कई विचारों का खुला त्यौहार है। पर अब इसी तस्वीर में देखिए सऊदी शाह दो ''पवित्र'' मस्जिदों के रखवाले की भूमिका में इतराते रहते हैं। इस पदवी से उन्हें यही दिखाने का अवसर मिलता है कि सारे मुसलमानों के – चाहे वे किसी भी रंग के हों, वे ही प्रतिनिधि हैं।

असली तस्वीर क्या है ? इतनी खूबसूरत नहीं हैं। रियाध (सऊदी अरब की राजधानी) की रियासत शिया मुसलमानों से कैसा सलूक करती है, यह देखने वाली बात है। सुन्नियों के बाद सबसे बड़ा हिस्सा–शिया। **सऊदी प्रचार तो यही होता है कि शिया लोग यहूदियों की साजिश हैं। कहते हैं किसी यमनी यहूदी ने इस्लाम को बाँटने के लिए और यहूदी विचार फैलाकर मुसलमानों को_गुमराह और खराब कर दिया, और यही शिया लोग हैं।**

अब यहूदियों द्वारा बनाए गए शिया तो 'धिम्मी' ही हुए, न ? और यही वस्तुतः उनका स्तर है, आज के सऊदी अरब में। **हाल ही में एक शिया इस्माइली मुसलमान ने बयान दिया है–'मेरे वतन में सबको मज़हबी दबाव में करके उनके खेत छीन लिए गए, जीना मुश्किल कर दिया गया, वहाबी सरकार के गवर्नर, अमीर और जजों ने सारी ज़मीनें हड़प लीं। जो पैदा करते हैं उसका भी आधा उठा ले जाते हैं।'' क्या यही तस्वीर मुहम्मद के वक्त में भी नहीं दिखी थी, जब यहूदी किसानों को लूटा गया था ? यह सब कुछ जायज़ है, क्योंकि शिया मुस्लिम तो यहूदी ही हैं।** शिया किसी सऊदी न्यायालय में शिरकत नहीं कर सकते। सिर्फ वहाबी ही जज बन सकते हैं। इन दोनों बातों को मिलाएं तो स्पष्ट है कि हर शिया जो पेश होता है उसे पहले से ही मुजरिम करार दिया जाता है।

सन् 1990 में 'मुस्लिम इन्सानी हकूक' (मानवाधिकार) करारनामा काहिरा में मुस्लिम कौमों ने मंजूर किया। वह कहता है कि सही जायज़ (Trial) का हर एक को हक है। मेरा ख्याल है इस 'हर एक' में 'गैर–मुसलमान' तो शामिल नहीं होंगे ? और शिया तो यहूदी हैं–सिर चकरा जाता है इन बातों से।

इसी अरब में औरतें न्यायालय में नहीं जा सकतीं–चाहे उन पर हत्या का आरोप हो। वे तो केवल एक गाड़ी की तरह मिलकियत (सम्पत्ति) हैं। हाँ, और वे कार नहीं चला सकतीं। इस बात पर ध्यान ही नहीं देते कि सऊदी अरब में

57 प्रतिशत औरतें हैं। पर वे हमेशा जैसे नाबालिग (अवयस्क) रहती हैं। पहले पिता, फिर पति और फिर अपने पुत्रों के अधीन ही रहना पड़ता है।

और इन नाबालिग–बालिगों (औरतों) पर हर वक्त निगरानी रहती है, 'मुत्तावा' या मज़हबी पुलिस की। वही नज़र रखते हैं, उनके पहनावे या रहन–सहन पर। सन् 2002 में एक स्कूल में आग लगी–पर बिना 'अबाया' के बाहर नहीं आ सकती थीं। *(अबाया' अर्थात् पूरे बदन को ढकने वाला बुर्का)* **मुत्तावियों (मज़हबी पुलिस कर्मियों ने) ने उन्हें ढकेल कर वापस भेज दिया कि अबाया' पहनकर आओ। इसी में 15 की मौत हो गई और दर्जनों घायल। दुनिया के किसी भी देश में ऐसा कानून नहीं है। कुरान सिर्फ रसूल साहब की बीवियों को पर्दा करना ज़रूरी समझता है।**

सऊदी अरब के और तौर–तरीके देखिए, जिनमें पुराने कबाइली रीति–रिवाज़ आज भी मौजूद हैं। सिर्फ कुछ बड़े शाहज़ादे हैं जो सत्ता पर कब्जा जमाए बैठे हैं। वही आगे की पॉलिसी बनाते हैं और मुल्लाओं के माफिया को कुछ खास इनाम देते रहते हैं ताकि उनकी वफादारी कायम रखें–वर्ना गड़बड़ हो जाएगा।

जब तक मीडिया ने हल्ला नहीं मचाया तब तक सऊदी अरब से चलने वाली इस्लामी चैरिटीज़ के हिसाब देखे ही नहीं जाते थे। यहीं पर पुरानी इस्लामी इमारतों को इसलिए तोड़ा जाता है ताकि वे कहीं बुत ही न बन जाएं। चूंकि यहां मुल्लाओं को ज़्यादा हिफाजत देना है इसलिए संयुक्त राष्ट्र का मानवाधिकार संबंधी पर करारनामा नहीं माना गया है। **उल्टा, सऊदी अरब एक कठोर और बंजर इस्लाम को दुनियाभर में बढ़ावा दे रहा है।**

इसके परिणाम अब सूडान और पाकिस्तान से आ ही रहे हैं। पाकिस्तान में बहुत से मदरसे ऐसे हैं जहाँ सिर्फ कुरान की आयतें ही पढ़ाई जाती हैं। सूडान से हो रहे गैर–मुस्लिमों के कत्लेआम और गुलाम बनाने के ढर्रे के बारे में आप जान ही गए हैं।

पाकिस्तान में चल रहे बदाऊँनी कबीलों जैसे तौर–तरीके देखते समय यह भी ध्यान रहे कि वहाँ कुछ गैर मुस्लिमों को मौत की सज़ा सहनी पड़ सकती है, केवल इसलिए कि उन्होंने 'अस–सलाम–आलेकुम' कहने की जुर्रत की थी। और आगे चलें तो देखेंगे कि–अफगानिस्तान को सऊदी अरब के ही ढंग में ढालने की कोशिश इस रेगिस्तानी इस्लाम से की गई। तालिबान के इशारे पर बनी नई मुस्लिम अमीरात–ए–अफगानिस्तान ने वही सऊदी तरीके अपनाए, जैसे मज़हबी पुलिस का गठन करके औरतों और शियाओं को दबाना और वही मूर्तिभंजक तरीके अपनाना जिसमें पुरानी मज़हबी जगहों और मूर्तियों को उड़ा दिया गया। बांग्लादेश में भी ईसाई, हिन्दू और बौद्ध मूर्तियां चुन–चुन कर तबाह की जा रही हैं। नाम मात्र के लिए बांग्लादेश एक लोकतंत्र है। अब तो 'बामियान के बुद्ध' से कुछ सीखना चाहिए। **चुप्पी साध कर शांति के लिए प्रार्थना करने से इस रेगिस्तानी इस्लाम का मुकाबला नहीं हो सकता।**

यह वाहाबी तरीका उत्तरी अमरीका में भी पहुँच गया है। जो मुश्किलें मुझे किताबें ढूँढने में हुई थी, वही अब सऊदी धन से चलने वाले बड़े इस्लामी स्कूल में भी देखी जा रही हैं। मुझे बचपन में सिखाया गया था, यहूदियों से दोस्ती न करना, वही अब भी चल रहा है। मुस्लिम बच्चों को बाँटी जा रही अरबी की किताब की एक पंक्ति देखें – **'काफिर, बुतपरस्त और उनके जैसे लोगों से नफरत करो–उनसे दूर रहो और हमारे और उनके बीच रुकावटें पैदा करो''।**

अब दक्षिण एशिया में भी रेगिस्तानी इस्लाम पहुँच गया है। वहाँ इस्लाम आया था व्यापार करने, न कि फौजी कब्ज़ा करने। शायद इसलिए वहाँ के मुसलमान आज तक वहीं के बौद्ध, ताओ, ईसाई, सिख, हिन्दू, कन्फूशियन लोगों से, औरतों से भी मिलजुलकर रहते आए थे। मध्य पूर्व का पैसा मलयेशिया–इंडोनेशिया के जमीनी नज़ारे ही नहीं बल्कि वहाँ के कानून और आज़ादी को भी बदल रहा है। उदाहरण के लिए पुलिस ने तीन इस्लामी लड़कियों को इसलिए कैद किया कि उन्होने एक सौन्दर्य प्रतियोगिता में भाग लेने का अपराध किया था। जब इस फतवे की बात पता चली तो उनके घर वाले आश्चर्य में पड़ गए क्योंकि आज तक तो यहाँ खुलेपन से ही खुशहाली थी।

सन् 1995 के आस–पास लगभग सारे ही मलयेशियाई देशों ने शरीया के अनुसार कानून बनाए हैं, जिसमें किसी फतवे के विरुद्ध जाना भी जुर्म है। किसी तरीके से पकड़ना ही है। वहाँ की एक पत्रकार लिखती हैं, **बहुत कम मुसलमान ऐसे हैं जो खुलकर इस्लाम पर सवाल कर सकें, उसे चुनौती दें या सिर्फ इस पर बहस ही करें। इन्हें बस यही पढ़ाया गया है कि मज़हबी हाकिमों की बातें मानते जाएं।**

यह 'बुनियादी जनून' हमें मार रहा है। साथ ही अनेक लोग मर भी रहे हैं। अब तुर्की को उबारने वाले कमाल अतातुर्क से सीखने का समय आ गया है। सन् 1925 में उन्होंने कहा था, **''मैं इस बात से पूरी तरह इन्कार करता हूँ कि आज इस सदी में जब विज्ञान, शिक्षा और सभ्यता सब तरह से उन्नति की ओर है, फिर भी ऐसे लोग हैं जो अपनी आर्थिक या मानसिक शांति को मात्र किसी शेख के कथन पर गिरवी रखकर संतुष्ट हों।**

कमाल अतातुर्क ने इस्लाम के 'बुनियादी मौकों' से नाता तोड़कर अपने कौम को आगे बढ़ने का अवसर दिया। मज़हब के पीछे भागकर केवल मुल्लाओं की ही जीत हो सकती है जो वही करते हैं जो पहले कहा गया है, देखा है या किया गया है। अतातुर्क जान गए थे कि समाज को आगे बढ़ने के लिए कई दिशाओं में कई तरफ जीतना होगा।

इसी ठुकराने की बात से तुर्की लोकतंत्र की स्थापना हुई। यद्यपि कमियाँ हैं, तथापि यह इस्लामी दुनिया का एक पक्का लोकतंत्र है। वहां सन् 2002 में एक इस्लामवादी पार्टी को सरकार बनाने का अवसर मिला। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि उन्हें इस बात से वोट नहीं मिले कि अमेरिका की हर बात का विरोध करें या इस्राईल को कोसते रहें। उन्होंने तो यही वायदा किया था कि रोज़गार मिलेगा और रिश्वतखोरी रोकी जाएगी। बहरीन में भी जब चुनाव हुए तो इन्हीं दो बातों को दोहराया गया। खाड़ी के देशों में यह पहला ऐसा चुनाव था जिसमें औरतों को भी वोट करने का अवसर मिला। इन लोगों ने सिर्फ भूतकाल नहीं बल्कि वर्तमान को देखा था।

अगर बोलने की छूट मिले तो अनेक मुसलमान यही कहेंगे कि वे आधारभूत ढाँचे को बार–बार कुरेदना नहीं चाहते, आगे का रास्ता अपनाना चाहते हैं, गुज़रा रास्ता नहीं। जब गुस्सैल पाकिस्तानी माँ–बाप देखते हैं कि मुल्ला उनके बच्चों को अपराध की तरफ खींच रहे हैं तो वे उन पर बरस पड़ते हैं।

जब इंडोनेशिया के परहेज़ी मुसलमान नई किताब लाते हैं जिसमें इस्लाम और मानवाधिकार के मिलाप का उल्लेख हो, तब पता चलता है कि अन्य लोग आगे जा रहे हैं। ईरान में विद्यार्थियों की रैली के विरुद्ध संसद् में हंगामा होता है, तो लगता है कि अब कुछ होने वाला है। जब एक सऊदी अखबार में छपता है, ''अरबों घटना चक्र पर ध्यान दो'', जिसमें बताते हैं कि इस्राइली कौम अरबों से आगे क्यों है, तो महसूस होता है, मुँह खुल रहे हैं। जॉर्डन के वित्त मंत्री कहते हैं, ''अरबी नेताओं को अंततः आत्मघाती मानव बमों के विरुद्ध खुलकर बोलना ही पड़ेगा और राजनीतिक और आर्थिक तरीकों को और लोकतांत्रिक बनाना पड़ेगा।''

लेबनान का समाचार–संवाददाता कहता है, ''वाशिंगटन का दायित्व है कि मध्य पूर्व में उगते हुए हरे लोकतंत्र के पौधों को सहारा देना चाहिए'' तब यह स्पष्ट होता है कि दुनियाभर में आपसी मिलाप की पुकार है । जब–जब पश्चिम में कूटनीतिक दबाव बढ़ता है तभी वहाँ की आन्तरिक आवाज़ें भी बदलाव के लिए पुकारती हैं।

मोरक्को के शाह जब शरीया में बदलाव करके कई बीवियाँ होने पर रोक लगा कर औरतों को तलाक, गुज़ारा ओर बच्चों पर अधिकार की बात करते हैं, और कुरान का ही सहारा लेते हैं, तब आप समझ सकते हैं कि रिवाज़ पर वफा जीत पा सकती है। इन से भी बढ़ कर अमरीका में **'प्रोग्रेसिव मुस्लिम यूनियन'' पनप रहा है, जिसका नारा है, ''सारे इन्सानों का बराबर का दर्जा और अहमियत'।** साथ ही में इस्लाम के अहम किताबों की बारीकी से आज़माइश और लगाव रखते हुए ये कहते हैं–''अनेक रास्ते हैं जो सच्चाई की ओर ले जाते हैं।'' यह सुनकर ज़रूर लगता है कि पश्चिम की खुली हवा से मुसलमानों की नई पीढ़ी को अब 'इज्तिहाद' को फिर से बढ़ाने की उम्मीद है। यही इस्लाम की वह खोई हुई प्रथा थी जिसके अंदर नई सोच की आज़ादी थी, जिससे आविष्कार किए जा सकते थे।

आगे बढ़ने के रास्ते में चलते हुए मुझे लगता है कि हमें तीन चुनौतियाँ का सामना करना पड़ेगा।

- एक– औरतों के हुनर को बढ़ावा देकर मुस्लिम व्यापार को फिर से जीवित करना
- दो–इस्लाम के कई रूप सामने लाकर रेगिस्तानी तरीकों का मुकाबला करना
- तीन–पश्चिम के साथ मिलकर काम करना, उनके विरुद्ध नहीं।

इन सारे तरीकों से हम इस्लाम के पुराने कबीले वाले ख्यालों को खत्म कर रहे हैं।

अब मैं भी 'दुत्कारी हुई' नहीं रहूँगी। आओ शुरू करें–''ऑपरेशन इज्तिहाद''।।

अध्याय–7

ऑपरेशन इज्तिहाद

कितनी अजीब बात है कि किसी की यह हिम्मत ही नही थी कि वह इस्लाम को सुधारने की बात करें, जबकि वह न तो सियासतदाँ है, न कोई डिप्लोमैट, न ही कोई अध्यात्मवादी Theologian! मुझे खुद भी कभी–कभी सोच कर हैरानगी होती है पर सिर्फ कभी–कभी ! मुझे इस बात की कोई परवाह नहीं कि मैं अपनी जगह पर रहूं। बदलाव की शुरुआत कहीं से तो होनी ही चाहिए। फिर एक जवान मुस्लिम औरत से ही क्यों न हो – जिसको ''जैसे थे'' कि हिमायत करने में कुछ भी लगाव नहीं–न ही कुछ जज़्बात जुड़े हैं इसमें।

मैंने अभी तक तो यही समझा है। **औरतों की बेइज्ज़ती करना और मज़हबी अल्पसंख्यकों को नीचा दिखाना, इसमें मुसलमानों को बड़ी महारत हासिल है।** क्या ये दोनों परेशानियां इकट्ठे ही सुलझाई जा सकती हैं ? मैंने कुरान और इतिहास से कई सूत्र ऐसे निकाले थे जिनासे यह उम्मीद होती है कि सुधार हो सकता है। मसलन, मुसलमानों को सदियों से व्यापार (तिजारत) से बेहद प्यार रहा है। इसी से मुझे कुछ चेतना मिली। एक – व्यापार से आपसी ताल्लुकात अच्छे रहते हैं, जैसे मुसलमान, यहूदी ओर ईसाइयों में। दूसरा–कुरान में ऐसी कोई मनाई नहीं है जिससे औरतें व्यापार में न आ सकें। इन्हीं बातों से मेरा यह सरसरी ख्याल है कि खुदापरस्त और औरतों का चलाया हुआ पूंजीवाद अपनाने से शायद इस्लाम का उदार मत हो सके। पर किसी ने क्या ऐसा किया है? या सोचा भी है ?

एक दिन, अक्तूबर 2002 में 'ओप्रा विनफ्री' का टी.वी. कार्यक्रम देख रही थी, जिसमें मुस्लिम बहनों की आम हालत कितनी बुरी है इस पर चर्चा हो रही थी। इसमें ओप्रा ने तीन औरतें पेश कीं, एक जिसे पत्थर मारकर मौत की सज़ा मिली, दूसरी के चेहरे पर तेज़ाब फेंककर जलाया गया और तीसरी जिसने कहा कि समाज में मेरी कीमत एक जूती के बराबर ही है – कम या ज़्यादा नहीं। ओप्रा ने सबसे सवाल किया 'हम क्या कर सकते हैं ?''

उनकी एक मेहमान ज़ैनाब साल्बी थी जिन्होंने कहा ''मेरी एक अफगानी औरत से मुलाकात हुई, उसने कहा, मुझे 100 डॉलर्स मिल जाएं तो मैं एक अपना काम शुरू कर सकती हूं। अब इस औरत को मदद कीजिए। उसे लिखना–पढ़ना सिखा दें ताकि वह अपने बच्चों का हक अनजाने में किसी को न दे। उसे अपने अधिकारों से परिचित करा दें ताकि वह अपने मर्द को या कबीले के मुखिया को यह कह सके आप मेरे साथ ऐसा नहीं कर सकते। उसे अपनी ज़िन्दगी की लड़ाई खुद लड़ने दें।'' उन्होंने यह भी कहा कि पश्चिम की औरतें मुस्लिम औरतों के व्यापार में होशियारी का फायदा उठाएं। जब उनके पास पैसा होगा, तब शायद वह अपनी हालत पर सवाल उठाने का अहम काम कर सकें।

इस शो को देखकर मुझे एक पुकार सुनाई दी जो खुद की मदद और उससे ज़्यादा खुद की इज्जत के बारे में था। जब मुस्लिम औरतें सवाल पूछने लगें तो वह सिर्फ घर की इज्ज़त का निशान ही नहीं बल्कि एक इज्जतदार इन्सान बन जाती हैं। अरबी इज्जत का तरीका या कायदा यही कहता है कि अपने पोते, बाप या बेटे की प्रसिद्धि, पद और तरक्की के लिए औरतें अपने ज़ाती हक कुर्बान कर दें। पर इस तरह जीने को चुनौती देने का मतलब तो यही है कि आप सिर्फ मिल्कियत' (सम्पत्ति) नहीं हैं। आप औरतें खुद एक इन्सान हैं, अपनी सोच को अपनी आवाज़ में खुद जाहिर कर सकती हैं। अच्छी बात तो यही है कि रसूल मुहम्मद भी सारे मुसलमानों के लिए यही तो हमेशा चाहते थे कि हम कबीले से ऊपर उठें क्योंकि कबीलों के इन्हीं संकरे, खुदगरज़ और दिमागी जनून वाले ख्यालों से सातवीं सदी के अरबस्तान को दुश्मनी, हिंसा और भेदभाव से भरा रेगिस्तान बना रखा था। अब इस 21 वीं सदी में मुस्लिम औरतों के हुनर को बढ़ावा देकर हम खानदानी इज्जत को खुद्दारी में बदल सकते हैं और इसलिए इस्लाम को भी बदल कर उसके तरीकों को बेहतर बना सकते हैं।

ऑपरेशन इज्तिहाद एक मुहिम है जिससे इस्लाम को इन्सानियत फिर से हासिल हो। उसी का पहला कदम यही होगा कि औरतों द्वारा व्यापार के हुनर को बढ़ावा देना।

मैं अपने आपको इस मुहिम का नेता नहीं घोषित कर रही हूँ । अभी तो यह शुरू भी नहीं हुआ है। वैसे हकीकत में तो मैं यह भी नहीं सोचती कि बेड़ियां खोलना एक बहुत बड़ा हिम्मतवाला काम होगा जिसमें बहुत से मददगारों की ज़रूरत भी होगी जिसमें पश्चिमी लोग भी शामिल हैं। शायद इसी बात से कबाइली ख्यालों को कुछ ठोकर लगे। ज़रूरी है कि हम कई कल्चर्स को साथ लेकर सोचें। अगर हम 'दूसरों' को छोड़कर सोच को ही बंद कर के रखें तो वही होगा जो 9/11 (सितम्बर 2001) में हुआ। अगर हम अच्छे 'दुनिया के नागरिक' बनें तो वही सारे ही अंदरूनी हिफाजत के लिए अच्छा है। पश्चिमी लोग इसे चाहे या न चाहे आखिरकार मानना ही पड़ेगा।

आज इस बात को मानने की अहमियत इसलिए है कि अरब देशों में युवाओं की गिनती बहुत ज़्यादा बढ़ गई है। आज वहाँ साठ फीसदी लोग बीस साल से कम उम्र के हैं। बनिस्बत अमरीका के जहाँ 29 फीसदी ही ऐसे हैं। अरब जवानों के पास कॉलेज की डिग्रियां हैं पर उनके पास काम की उम्मीदें कुछ भी नहीं हैं और यह अच्छी बात नहीं है। खाली बैठे लोग अक्सर ऐसे उग्रवादी गुटों में शामिल हो जाते हैं जो मुफ्त का खाना, कुछ कर दिखाने का, और अपने गुस्से को किसी पर उतारने का मौका देते हैं। एक और पीढ़ी बढ़ने तक अरबों की गिनती चालीस प्रतिशत और बढ़ने

का अनुमान है। आज करीब तीस करोड़ हैं वह 2020 तक तैंतालिस करोड़ होगी। अगर इन बच्चों को इकोनॉमिक (आर्थिक) और सिविल मामलों में शामिल होने से रोका जाता है तो दुनियाभर में चिंगारी लग जाएगी। यह Babyboom केवल अरबों का नहीं बल्कि पश्चिम का भी मसला है।

संयुक्त राष्ट्र के एक सर्वे में आधे अरबी जवानों ने कहा कि वह बाहर जाना चाहते हैं – हसरत भरी निगाहों से पश्चिम की ओर देख रहे हैं। पश्चिमी देश कई तरीकों से उन्हें रोकना भी चाहते हैं, पर याद रहे कि बाहरी लोगों को आने देना ही पड़ेगा, उनके बगैर वह ख़ुद आगे बढ़ ही नहीं सकते। **यूरोप, अमेरिका, जापान, कनाडा और आस्ट्रेलिया की जनता एक तरफ बुढ़ापे की ओर बढ़ रही है और दूसरी तरफ उनकी 'पैदाइश' कम हो रही है।** इन सारे देशों को काम करने वाले चाहिए ताकि पैदाइश हो, टैक्स आते रहें, खरीद बढ़े और बूढ़ों की देखभाल के लिए पैसा भी चाहिए। **मतलब पश्चिम को मुसलमानों की ज़रूरत है।** ***(पाठक इस बात पर भी विचार करें कि इस विचार के विपरीत, भारत की बढ़ती आबादी से चुनकर बहुत सारे काम करने वाले और काबिल लोगों को ले लेने से पश्चिम को कितना ज्यादा फायदा होगा और खतरा कुछ भी नही!)*** हाँ, पश्चिम को और 'मुहम्मद अट्टा' नहीं चाहिए। यह 9/11 का हवाई हमलावर हैम्बर्ग में पढ़ा और कुरान के पाठ भी उतनी ही आसानी से सीखता रहा जैसे कंप्यूटर का प्रोग्राम। उसकी परवरिश तो कुछ पंथनिरपेक्ष तरीके से हुई, मिस्र से इंजीनियर बना, आगे जर्मनी से आगे की पढ़ाई की। फिर भी ऐसा लगता है कि अट्टा इस्लाम के autocratic interpreter (एकतंत्रीय प्रवक्ता) को किसी भी तरह का सवाल नहीं कर सकता था। पर पश्चिमी देशों को ऐसे मुसलमान चाहिए जो कड़े सवाल पूछें। ऑपरेशन इज्तिहाद को चलाने का यही तो मकसद है। क्या हमें उस वक्त का इन्तज़ार करना चाहिए जब लाखों मुसलमान आस्ट्रेलिया, जर्मनी, ब्रिटेन या अमेरिकी चेकपोस्टों पर भीड़ लगाए खड़े होंगे ? अपनी हिफाजत के लिए कितना अच्छा होगा अगर यहीं आने वाले मुसलमान यह जानते हों कि इस्लाम को कई ऐसे तरीकों से देखा समझा जा सकता है जिससे बहुपंथवाद पनप सके, ना कि उसका दम घुट जाए। यही देखना है कि कैसे हम मुस्लिम दुनिया में सुधार कैसे बोएं, शुरू करें।

ऑपरेशन इज्तिहाद की शुरुआत होगी मुस्लिम औरतों को ''व्यापारी'' बनाने की ताकत देकर। **<u>बंगलादेश के मुहम्मद युनुस यही काम 1980 से कर रहे हैं। उन्होंने यह दिखा दिया है कि थोड़ी सी मदद मिल जाए तो मुस्लिम औरतें काम शुरू कर सकती हैं।</u>**

युनूस ने ग्रामीण बैंक की स्थापना की जिसका उद्देश्य था कि छोटे–छोटे कर्जे देकर ऐसे लोगों की मदद की जाए जिन्हें आम बैंक लोन नहीं देते, जिनमें बहुतायत में औरतें होती हैं। एक रिपोर्ट के अनुसार तीन करोड़ दस लाख लोग जिनमें तीन चौथाई औरतें हैं और दो–तिहाई ऐसे लोग जिनकी गिनती गरीबों के भी नीचे होती है, लोन पा चुके हैं, वह भी चालीस देशों में।

जबसे ग्रामीण बैंक खुला है, उसने कई कर्जे ऐसे लोगों को दिए हैं जो हर चीज़ बनाते हैं जैसे मोमबत्तियां, श्रृंगार की चीज़ें, डबलरोटी, दालें, मच्छरदानियां और तो और मोबाइल फोन भी और कितने लोगों ने अपना लोन वापिस किया? अपने ही गांव का नाम खराब न हो यही सोच कर 98 प्रतिशत लोन वापिस आ गए हैं। अब अपना हुनर ऐसी बातों में लगाना कितना अच्छा है। इसी बात पर यह भी जान लें कि बांग्लादेश के ही इंडस्ट्रियल डेवलपमेंट बैंक को जो कि सिर्फ प्रॉपर्टी वालों को ही लोन देता है, उनसे लोन लेने वाले केवल 10 प्रतिशत लोगों ने ही लोन वापिस किया है। अब क्या इनका मुकाबला होगा। ***(पाठक जानते ही होंगे, सन् 2006 का नोबेल पुरस्कार मुहम्मद यूनुस और ग्रामीण बैंक को मिला है।)***

ऑपरेशन इज्तिहाद शुरू करने के लिए एक ख्याल यह है – अमेरिका, यूरोप, कनाडा, आस्ट्रेलिया, जापान और उनके और अमीर साथी अपने सुरक्षा बजट में से बहुत छोटा–सा हिस्सा निकाल कर उससे एक ऐसा प्रोग्राम बनाएं–जो केवल छोटे उद्योगों के लिए पूरे मुस्लिम दुनिया के औरतों को दे दें।

यह कोई साम्राज्यवादी विचार नहीं है। किसी पर भी लोन लेने के लिए जोर नहीं होगा। उन्हीं औरतों की मदद की जाएगी जो समझती हैं कि उनके समाज में/गांव में ऐसी जरूरत है जो कि वह अपने हुनर या लगन से पूरी कर सकती हैं। इसके लिए सबसे बड़ी मिसाल तो यही है जिससे युनुस को ग्रामीण बैंक चालू करने की प्रेरणा मिली। गांव की एक औरत जो बाँस के मूढ़े बनाती थी, उसने युनुस को कहा कि सामान खरीदने के लिए उसे पैसे उधार मिलते थे, पर उसी आदमी से जो मूढ़े बन जाने पर खरीदता था। अब वही उधार देगा, और वही मूढ़ों का दाम तय करेगा तो उस औरत को दिन के बस दो–एक रुपये मिल जाते थें अब ऐसी औरतों को छोटा–सा लोन देकर उन्हें अगर इस गुलामी से छुटकारा मिल जाए तो इसमें कहाँ है साम्राज्यवाद ? व्यापार से इस्लामी तहजीब की पुरानी दोस्ती है। कुरान में भी कहा है, ''वह जब कुछ नया पैदा करें तब ही उससे लिया जाए''।

2002 में UN (संयुक्त राश्ट्र) की तरफ से अरब इन्सानी डेवलपमेंट रिपोर्ट जारी किया गया। इस का शोध कार्य और लिखना दोनों अरबों ने ही किया था। इसमें मिडिल–ईस्ट (मध्य पूर्व) की सरकारों पर अपने ही आधे हिस्से को पूरी तरह नाकाम करने का आरोप लगाया था, उनकी ही औरतों ने। उन्होंने तीन खास कमियों पर ज़ोर दिया था। पहला, औरतों को ताकतवर और कामयाब बनाना, दूसरा जानकारी और तीसरा आज़ादी। अगर पहली कमी पर ही ध्यान देकर

उसे बेहतर बना दें तो अपने आप जानकारी और आज़ादी बढ़ जाएगी। सभी औरतों के पैसों के मामलों में आज़ादी मिलने से उनकी आज की घुटन भरी जिन्दगी खत्म होगी और वह साक्षर भी बनेंगी। इससे फायदा यह होगा कि वह खुद जान लेंगी कि कुरान क्या कहता है और उन्हें **''दूसरे'' कहें और वे सुने** यह नहीं करना पड़ेगा।

आप कहेंगे तुम्हें कैसे मालूम कि औरतों को इस पढ़ने–लिखने की बात में दिलचस्पी है ? अफगानिस्तान में देखा गया है कि कई बूढ़ी औरतें जिनमें कुछ मुहाजिर भी थीं अब उन्हीं में से कुछ जवान औरतों के चलाए स्कूलों में पढ़ने जाती हैं। तालिबान के वक्त में भी ये छुप–छुप के चलाए जाते रहे। **एक बुढ़िया ने कहा, मैं यह देखना चाहती हूं कि मुल्लाजी कुरान के बारे में जो कहते हैं वह सही है या नहीं। इसलिए पढ़ रही हूँ।** अगर इसी औरत का अपना काम होता तो उसे पढ़ने की और भी ज़रूरत होती। कुरान में एक ऐसा हिस्सा है जिसे इमाम लोग निचले तबकों को कुछ बताते ही नहीं। कुरान में औरतों को अपनी मर्जी के मुताबिक शादी का करारनामा बनाने का अधिकार है। कहा है, ''अगर औरत को उसका पति बुरी तरह रखे, तो उसके लिए दोनों की हामी से सुलह होनी चाहिए क्योंकि सुलह ही अच्छा है। लोग लालच में आ जाते हैं।'' हो सकता है कि आज के करारनामें इस बात को भी शामिल कर लें, जैसे – मेरा शौहर मुझपे हाथ न उठाए, न ही मेरी कमाई पर नज़र रखे। अगर ऐसा किया तो उसे बुरा रखाव माना जाएगा और मुझे उसे तलाक देने का हक होगा। अब उसके छोटे से कर्जे लेने से कहाँ तक हौंसले बढ़ गए हैं। जो उसे छीनने की कोशिश करेगा उसे कुरान के साथ बातचीत करनी होगी और शादी के पहले किया करार भी होगा जिसे शरिया के जज भी टाल नहीं सकते।

आदमियों को भी ऑपरेशन इज्तिहाद से सीधा फायदा होगा। सब तरफ फैले अपने ही कामों से बाहरी पैसा भी आ जाएगा। जब बाहरी पैसे इन कामों में लग जाएंगे तो आम लोगों का फौज, पुलिस और सरकारी महकमों पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा। यही तीन ताकतें हैं जिनमें मुस्लिम लोग आज पनाह लेना चाहते हैं। एक अमेरिकी नेता ने कहा था ''आदमी की खुद्दारी भी औरत की खुद्दारी पर निर्भर करती है।'' ऐसे समाज जिनमें औरतों का तबका बहुत नीचा होता है वहां आदमी भी आदमी की ही सेवा करता है। उद्यमी औरतों में पैसा लगाकर हम वह समाज की बेड़ियां तोड़ सकते हैं, जिससे मुल्लाओं की रईसी तो बढ़ती ही है और उनके ऊपर वाले पैसे बाँटने वालों की भी।

इस्लाम को उदार बनाने में आपरेशन इज्तिहाद काफी फायदेमंद लगता है। पर यह वायदा भी लड़खड़ाकर आखिर में लुढ़क ही जाएगा, अगर इस्लाम में वही इन्सानी अधिकारों के बारे में बार–बार कहा जाए कि आदमी ही उसके परिवार का रखवाला और रखने वाला होगा। इसी से औरतों को कुछ पैसा कमाने की मनाही हो जाती है। मैं पूरा यकीन रखती हूं कि जब खुशहाली होगी, या उसकी उम्मीद होगी, तब आदमियों के सहारे ही चलना कम हो जाएगा। कुछ मिसालें देना चाहूंगी कि कुछ काम करके जिन्दगी बनाएं, इस बात के लिए कितना कुछ कर सकते हैं।

पहले एक दर्द भरी कहानी। सन् 1997 में इस्लामियों ने मिस्र में 58 सैलानियों को कत्ल कर दिया। पहले भी छुटपुट वारदातें होती रहीं, पर इस हादसे ने मिस्र के सैलानी कारोबार को गहरी चोट पहुँचाई। साल में करीब दो अरब डॉलरों की कमी हो गई। यह महसूस करने पर मिस्र की अवाम का मन आतंकवादियों से हट गया और एक पुराना कानून फिर से उभरा। सोलह साल पहले यह इमरजेंसी कानून मज़हबी आतंकवादियों को काबू में करने के लिए बनाया गया था। यह तो बड़े शर्म की बात है कि यह डंडा अब सिर्फ ताकत के दलालों का हथियार बना है। पर मेरा इस बात से मतलब इतना ही था कि जब आतंकवाद से समाज की अर्थव्यवस्था लड़खड़ा जाए तो मिस्र ने आतंकवादियों को ही धमकाया।

फिर भी इन रेगिस्तानी इस्लाम के बंदों की तरकीबों का पूरा अंदाज़ है मुझे। एक वेबसाइट है ''इस्लामी कानून के नीचे रहने वाली औरतें'' जिसमें कहा है, कि इन बुनियादी जनून वालों ने आज के नए तरीकों का इस्तेमाल बखूबी किया है। बाज़ारों में सस्ते और सीधेसादे लगने वाले कैसेटों की बाढ़ लगी है। हर मुस्लिम समाज में यह प्रचार होता है कि बराबरी और अपने आप सरकार चलाना इन पश्चिमी विचारों का विरोध करो, औरतों को काबू में रखो। और तो और इनमें सबको उकसाया जाता है कि चाहे ज़ोर ज़बरदस्ती करो, चाहे अपने दुश्मनों को कत्ल कर दो। यह कैसेट जनता को बसों में, मस्जिदों के लाउड स्पीकरों पर और रेडियों पर भी ज़ोर–ज़ोर से सुनाए जाते हैं।

लेबनान के अल–मनार टी वी चैनल पर यहूदियों के खिलाफ काम करने की सिफारिश होती है। इनके एक प्रोग्राम के ज़रिए यहूदियों के सारे मीडिया पर नज़र रखी जाती है, ताकि उनके फौजी तरीकों का पर्दाफाश कर सकें।

मीडिया का इस्तेमाल करना, यह भी ऑपरेशन इज्तिहाद का एक अहम पहलू होगा। इसके लिए ज़रूरी है कि पश्चिम की तरफ से उन्हीं चैनलों को सहारा या मदद मिले जो मुस्लिम औरतों की कहानियां उन्हीं की जुबानी सुनाएं। इस तरह का प्रोग्राम कई दिनों से रूस में में चलाया गया, जिससे अब वहां दर्जनों टीवी नेटवर्क चल रहे हैं और हर सोवियत नागरिक कई चैनलों में से चुनकर खबरें सुनता है।

क्यों न ऐसा करें कि एक संगठन खड़ा करें जिसमें मुस्लिम भी और गैर–मुस्लिम भी शरीक हों और वह इस्लामी दुनिया की औरतों को टी वी स्टेशन शुरू करने और चलाने की कार्रवाई करे और इसे बढ़ावा दे सकती है 'ओप्रा विनफ्री'। ओप्रा को तो तजुर्बा है, हिम्मत भी और वह औरतों के और बच्चों के शिक्षा के बारे में दिलचस्पी रखती है।

ओप्रा को किसी ने बताया था कि ''चाहे न चाहे आपके मौजूद रहने से ही हलचल हो जाती है।'' और अब तो टी वी भी बहुत बढ़ रहा है, सेटेलाइट डिश हर जगह मिल जाती है। इस्लामी कौमों में भी। जो काम छपाई मशीन ने ईसाइयों के जकड़े हुए इल्म के लिए किया था वही काम यह खास चैनलें इस्लाम के लिए कर सकती हैं।

इसके लिए शुरू में रेडिया ही सबसे अच्छा रहेगा। बात पहुँच जाएगी, पर चेहरा नहीं दिखेगा। शुरुआत में तो बोलने वाले की पहचान छिपानी पड़ेगी। फिर कुछ लोग तो कहेंगे, 'मुहम्मद साहब भी चाहते थे कि औरतें भागीदार हों न कि नौकर। कुछ लोग कहेंगे कि 'खदीजा' जो मुहम्मद साहब की पहली बीवी थी वह उनसे पन्द्रह साल बड़ी थी और एक रईस व्यापारी थी, खुद की काबिलियत पर बनी। उन्हीं के कहने पर अल्लाह को तसलीम करने पर भी वह उन्हीं से सलाह भी लेते थे। जो भी हो, सच या झूठ पर मुझे यकीन है कि और भी मुसलमानों की तरह यह ज़रूर देखना सुनना पसंद करूंगी कि खुले विचारों से क्या सच है और क्या नहीं। इस पर खुली बहस रेडियो–टीवी पर हो। नाइजीरिया की डॉ. आएशा इमाम कहती हैं, ''ऐसे बहस ज़रूर होनी चाहिए ताकि लोग नए शरीयत के कानून के सख्ती या कमियों के बारे में अपने ख्याल तो बता सकें। उस पर सही गलत टीका हो जाना ठीक है बनिस्बत इसके कि हमें तो मालूम ही नहीं, कैसे बोलें ?'' इसका मतलब तो यही है कि शक या शुबह की खोज करने पर ही कुछ अपने आप पर यकीन हो जाता है, चाहे वह एक कामकाजी औरत ही हो। अपना शक ज़ाहिर करने से आप कबीले से लड़ सकते हैं। सुधार करते वक्त हम अगर शक या सवाल की गुंजाइश ही न रखें तो वह मज़हब कड़े दिल वाला ही नहीं, कच्चे दिल वाला हो जाएगा। न सवाल कर सकते हैं और न ऐसा करने का कोई ज़रिया ही हो।

सवाल उठता है कि हम इस्लाम से गुजारिश करें ही क्यों ? **यह तस्लीमा नसरीन का ख्याल है कि बेहतरी तभी होगी जब मज़हब पीछे हटेगा। उनके ख्याल से मुसलमानों को मज़हबी कानूनों को हटाकर दीवानी (सिविल) कानून लगाना चाहिए, जिससे मस्जिद और सरकार पूरी तरह से अलग हो जाएं।** पर क्या यह ज़रूरी है कि 'इन्सानियत' लाने के लिए इस्लामी देशों को यहूदी–ईसाइयों की ही नकल करनी चाहिए ? मुझे तो पता नहीं। जो हाँ कहते हैं उन्हें एक और चुनौती का मुकाबला करना पड़ेगा। वह है लाखों औरतों को इस्लाम की पहचान का ठोस सहारा। अभी तो अवामी दुनिया से इस्लाम को हटाना शायद सही न होगा बल्कि उससे नुकसान ही हो सकता है।

रिफात हुसैन जो अमेरिका मे मज़हबी स्टडीज़ की प्रोफेसर हैं, कहती हैं अगर अफगानी औरतों को पूछेंगे क्या आप आम इन्सानी अधिकारों में यकीन रखती हैं ? तो वह नासमझी से सिर्फ देखती ही रह जाएंगी। उसे पूछिए–क्या आप अल्लाह में यकीन रखती हैं जो रहीम, रहमान और इन्साफवाला है ? तो कहेंगी ''हाँ''। और अगर पूछें क्या यही अल्लाह चाहेगा कि आपकी पिटाई हो या जानवरों सा सलूक हो ? तो फौरन समझकर कहेंगी, ''न''। तो इसी बात पर हमें समझ लेना चाहिए कि क्या हमें यह कोशिश करनी चाहिए कि हमें प्रैक्टिकल होना पड़ेगा। क्या हम चाहते नहीं कि ये औरतें अपने हक के लिए उठ खड़ी हों – या वही गैर–मज़हबी रिवाज़ों में घुटती रहें – उनके साथ नाइन्साफी हो, वह धोखा खा जाएं ?

सभी पढ़ी–लिखी औरतों तस्लिमा की तरह नहीं सोचती। एक वकील साहिबा से मुलाकात हुई। वह इसलिए कनाडा आ गई, कि अपनी मर्जी से अपना मज़हब इख्तियार करें। उसके अपने देश ट्यूनिशिया में मॉडर्न होने के होड़ में अपना सिर ढक कर चलना मना है। पर कनाडा में वह अपने मन मुताबिक सिर ढक के चलती है, कोई नहीं रोकता। ऐसी औरत को मिलकर मैं इसी मामले को सोचती रही। इस्लाम और पि चमी विचारों का आपसी तालमेल बहुत नाजुक है। ये बातें सेकुलर दिमाग को शायद पसंद न आएं पर ध्यान से सुनें। अपने विचार खुलकर सामने लाना, मज़हब को खुलकर अपनाना दोनों की आपस में लड़ाई नहीं है। हम 'सुधार' के लिए इस्लाम को ही दबा दें तो वह भी एक जुल्म होगा।

अरबी मुस्लिम देशों में जम्हूरियत चल सके उसके पहले वहाँ कुछ ऐसा माहौल पैदा होना चाहिए जहाँ विचारों का आपसी मुकाबला हो। जैसा मैं कहती आई हूँ, इस्लाम के 'दूसरे' तरीके भी रेगिस्तान से टक्कर ले सकते हैं। पर उसके पहले वही नए विचार सबको मालूम तो हों, उन पर बहस हो, उन्हें उछाला जाए, परखा जाए और फिर वह पसंद हो सकते हैं।

मैं समझ सकती हूं कि तस्लिमा ऐसा क्यों सोचती हैं कि सिर्फ 'सेकुलर' होने में ही बढ़ने की उम्मीद है। वह यही सोचती है कि हम इस्लाम का फिर सहारा लेते हैं तो उसी के घुटनवाले दबाव को भी मानना ही पड़ेगा। सुनती हूँ और इसलिए मैंने कई लोगों से बातचीत की–सभी प्रकार के साइन्स वाले सभी विचार वाले सोचते हैं कि हम इन्सान क्यों जीत के पीछे ही भागते हैं – साथ–साथ रहने के बजाए।

मैंने एक प्रयोग किया। एक पेपर में एक फर्जी चिट्ठी यासिर अराफात के नाम निकाली, जिसमें सुझाव था कि अगर सारे ही ज़मीन को साझे में रखें तो फिलिस्तीन में मुसलमान अपनी इज्जत, पहचान और शख्सियत कायम रख सकेंगे। मैंने यह भी मिसाल दी थी कि रसूल मुहम्मद जब मक्का से मदीना गए तो वह भी कहा जा सकता है कि 'हिजरा' था। ''अपनी जगह छोड़ कर दूसरी जगह बसकर हिफाजत ढूंढना'' कहलाएगा। मदीने के यहूदी लोग पहले से ही वहाँ रहते थे। पर उन्होंने अपनी ज़मीन रसूल साहब और उनके लोगों के साथ साझे में रखी। अब यासिर साहब,

इतिहास से कुछ सीख लो। अगर यहूदी भी जुल्म से तंग आकर फिलीस्तीन आ गए हैं तो क्या उनके साथ बाँटना सही नहीं होगा ? (वही हिज्र वाली बात उलटकर हो जाती) मैंने सोचा शायद इसीसे कुछ सुलझन हो।

दूसरे दिन उसी अखबार में एक नामी मुसलमान की चिट्ठी छपी। कहा था, ''हिज्र का मतलब अपनी जगह छोड़कर दूसरी जगह बसकर हिफाज़त ढूंढना है ही, पर वह नई जगह के रहिवासियों से उन्हें बुलावा मिले – तभी हो, ज़ोरजबरदस्ती से नहीं। मांझी साहिबा ने आखिर का हिस्सा छोड़ दिया।'' उनका खास मकसद था कि अरबों ने यहूदियों को फिलिस्तीन में आने का न्यौता तो नहीं दिया था। इसीलिए इसमें हिज्र का कोई लगाव नहीं हो सकता।

उसी के दूसरे दिन एक यहूदी ने जवाब दिया, ''जो मुसलमान कहते हैं कि वह यहूदियों से पहले वहाँ थे, उन्हें याद दिला दूं कि **अब्राहम और सारा** हेब्रान में ही रहते थे और तब मुहम्मद साहब के पैदा होने में भी बहुत वक्त था।''

किसी न किसी तरह से हम चाहते हैं कि हम ही सही हों। मैं भी चाहती हूँ।

पर क्या आप सही हैं, इसीलिए मैं गलत हूँ ?

यही सवाल पूछा था मैंने डेविड हार्टमान से जो एक यहूदी रब्बी हैं। उन्होंने उलट सवाल किया, क्या मेरा होना, या मेरी जिन्दगी तुम्हारी जिन्दगी के लिए कोई खतरा है ? और आगे बोले, मुझे तो मुसलमानों की अजान अच्छी लगती है। हाँ सुबह चार बजे मुझे जगा तो देती है, पर सर्वधर्म के लिए मैं नींद छोड़ सकता हूँ। जब रविवार को चर्च की घंटियां बजती हैं तो मैं कहता हूँ कि बजाए जाओ बेटा, ठीक है।

तब मुझे एक झटका सा लगा। अपना मज़हब ही एक वजह है जिसने इस्राइल के यहूदियों को अपने ही उकसाने वाले और कई अरबी सत्ताओं से सुरक्षित रखा है। **यहूदी मज़हब इस्लाम या ईसाई मज़हबों से निराला ही है–कहीं भी धर्मान्तरण की बात नहीं होती।** कहीं भी वह नहीं कहते कि यही दुनिया का एक ही मज़हब है। अपने ही असूलों, कानूनों से वह किसी को यहूदी बना नहीं सकते। इसीलिए वह अपने आपको चुनिंदा कौम कहते हैं। ***(पाठक फिर सोच लें कि हिन्दू विचार भी किसी पर दबाव डालने या हिन्दू बनाने की सोचते भी नही हैं)***

अब इस पर मुसलमान तो नाक सिकोड़ते हैं। कहते हैं चुनिंदा हैं तो अपने सत्य को साबित करने पे क्यों तुले हैं ? कुछ भी हो जाए, फिर भी हमारे जैसे खास चुने हुए लोगों को तो मोक्ष ज़रूर मिलेगा।'' मैं इसे बहुत गलत ख्याल समझती हूँ – यहूदी अपने आपको ''चुने हुए'' तो कहते हैं पर वह केवल स्वर्ग में मिलने वाली मिठाई के लिए नहीं वह तो इसी दुनिया का बोझ उठाने को तैयार हैं और वह भी पूरी दुनिया के लोगों के लिए। अगर वह अपना जिम्मा पूरा करते हैं तो उन्हें मोक्ष मिलेगा पर वह इसी पर निर्भर है कि वे जिम्मेदार बने रहें। इसका मतलब क्या हो गया ? मैं तो आम यहूदी विचार ही बता सकती हूँ–''जिम्मेदारी का मतलब है कबाइली जुर्रत का मुकाबला करना।''

कभी–कभी इस्राइली नेता जिम्मेदारी के भी आगे चले जाते हैं–पर हम मुसलमान उनकी कद्र ही नहीं करते। इस्राइली समर्थकों की एक रैली में अमेरिका के डेप्युटी डिफेन्स सेक्रेटरी (उप–रक्षा–सचिव) ने अपने भाषण मे कहा, ''मासूम फिलिस्तीनी बुरी हालत में हैं, और बड़ी तादात में मर भी रहे हैं।'' कई लोगों ने उनकी बात की निंदा भी की। उसी पर 'दुनियाई यहूदी कांग्रेस' के प्रधान ने बड़ी नम्रता से लिखा, ''जिन्होंने इस बात पर नाराज़गी ज़ाहिर की, उन्हें शर्म आनी चाहिए।'' उन्हें यहूदी किताब में से कहानी बताने की ज़रूरत है। जब यहूदी लाल समुद्र पार कर रहे थे, तब उनका पीछा करने वाले मिस्र के सिपाही डूबने लगे। तब फरिश्ते उस पर खुशी ज़ाहिर करने लगे तो यहोवाह (यहुदियों के भगवान) ने उन्हें बोला, ''ये भी तो मेरे ही लोग हैं''। फिलीस्तीनी इस मिडल–ईस्ट (मध्य–पूर्व) की लड़ाई में मर रहे हैं। मेरी सहानुभूति तो इस्राइलियों के लिए है ही, पर हम सबको इस बात का अहसास होना चाहिए कि फिलीस्तीनी भी एक इन्सानी प्रजा है।''

यही अहसास, जो ''दूसरों'' को भी पहचानता है, उसी की वजह से ब्रितानिया के पुराने रब्बी ने बहुत अच्छी बात कही। कहते हैं, ''यहोवाह ही फर्क पैदा करता है। इसी से हम से जो फर्क रखता है उसमें भी हमें भगवान् को ही पाते हैं। मज़हब की सबसे बड़ी चुनौती है कि हमें जो हमारे जैसा नहीं है उसमें भी भगवान् की सूरत देखनी चाहिए।'' इस बात पर भी कड़ी बातें कही गईं पर वह इस बात को नहीं छोड़ते कि फर्क भी पवित्र है, सच्चाई के बारे में सिर्फ यहूदी मज़हब ही आखरी बात नही बता सकते।

मैं यहूदियों की इन्सानियत पर इतना क्यों ज़ोर दे रही हूँ ? क्योंकि मैं उम्मीद करती हूँ कि ऑपरेशन इज्तिहाद में किताब वाले तीनों मज़हब (यहूदी, इसाई और मुस्लिम) आपस में मिलकर बातें करेंगे और इस बातचीत से अगर कुछ हासिल होता है तो इसे यहूदियों के ही खुलेपन के अंदाज़ में चलाना पड़ेगा। यह किताबी खुलापन नहीं है पर जैसे रब्बी हार्टमन ने कहा था, अब्राहम के भगवान के अंदर हरदम नयापन और कुछ बातें भी होती हैं। यानी ऐसा भगवान जिसकी मर्जी का हम अंदाज़ा नहीं लगा सकते– भविश्यवाणी नहीं कर सकते।

अरबी मुसलमान शायद ऐसी बातें बरदाश्त न कर पाएं। मलयेशिया के पुराने प्रधानमंत्री ने यही सुझाया था। कुंआलालम्पूर में सारी कौमों की एक मीटिंग में महाधीर मुहम्मद ने कहा था, **''इस्लाम की बागडोर अब अरबों के हाथ नहीं हो सकती, क्योंकि वह गैर–मुसलमानों से बात कैसे करें यह नहीं जानते।''**

इनके साथ लगे इंडोनेशिया में, जो दुनिया का सबसे बड़ा मुस्लिम देश है, लाखों लोगों ने बाली में हुए इस्लामी बम धमाके की जमकर निंदा की थी। एशिया के इस हिस्से में इस्लाम का चलन ऐसे माहौल में है जहां चीनी, भारतीय, मलयेशियाई, बौद्ध, ईसाई साथ–साथ रहते हुए काम करते हैं।

ऐसी ही हालते है मध्य एशिया के कझाकिस्तान में। वहाँ राज तो हुक्काम करते हैं पर करीबन सौ किस्म के लोग वहाँ बसते हैं। वहाँ सेकुलर सरकार चलाना पड़ता है और उदार सूफियों का भी बोलबाला है। यहूदियों की वहाँ एक बड़ी कॉन्फ्रैंस हुई जिसकी सरकार ने मेज़बानी की थी। इसमें यहूदी–इस्लाम मिलकर भाांति के लिए बातें करते रहें। अगर इस्लाम का कलेजा रेगिस्तानी अरबों से ताकतवर है और उसे वैसे ही कायम रख सकते हैं तो एशिया के मुसलमान अपनी ताक़त और होि ायारी दिखा सकते हैं।

अगर इन मज़हबों के बीच कुछ बातचीत होनी है तो, मेरा एक शक या सवाल है। इनमें कभी धोखा भी हो सकता है। अरबी दुनिया के अहम इस्लामी अल–अजहर मस्जिद के शेख साहब हैं सैयद तांतावी। इन्होंने ही यहूदियों को कहा था, ''अल्लाह के दुश्मन, सूअर और बंदरों की औलाद।'' और कहा था, ''मुसलमानों को एटमी हथियार हासिल करने ही चाहिए ताकि इस्राइली धमकी का जवाब दे सकें।''

अब इन शब्दों को किसी पागल बूढ़े की बकवास कह कर नहीं टाला जा सकता। अमन की बातें जब जिन्दा थीं तब भी शेख साहब इस्राइल के आला रब्बी से काहिरा में मिले थे। सवाल पूछने पर शेख साहब बोले, ''इन मुलाकातों से ज़रूर फायदा होता है। मैंने तो उन पर हमला करके यह साबित कर दिया कि इस्लाम ही सच्चा मज़हब है। दुश्मन से मिलकर उसे एक तमाचा लगाने के मौके से पीछे हटने वाला तो एक भीरू ही हुआ।''

जब तीन मज़हबों की मीटिंग होगी तब यही माहौल रहा तो क्या होगा ? या ऐसे भाषण सिर्फ अरबों के लिए ही हैं ? जब मैंने 'तीन मज़हब फोरम' को सवाल किया क्या यह जहरीली जबान वाले शेख नुमाइन्दे होंगे, तो उन्होंने मुझ से बात ही बंद कर दी। इस्लाम में सुधार चाहने वालों को चाहिए कि वे दुहरी बातें करने वालों से लड़ाई करें, अगर कुछ हासिल करना है। यह तो मज़हबों के बीच बातचीत करने के पार जाना है।

मैं मज़हबों के बीच ''सीधी बातों'' की दुनिया का चित्र देख सकती हूँ। **सबसे पहले हमें कड़ा रुख लेते हुए सऊदी अरब के बारे में वाद–विवाद करना होगा – जहाँ दोहरी बातों का अड्डा है।** यह विचार विश्वविद्यालयों में होना चाहिए किन्तु वहाँ तो विद्यार्थी और प्रोफेसर पहले ही इस्राईल को काटने के लिए तैयार खड़े हैं, परंतु सऊदी अरब के अपने रेशमी फरेब को चलने देते हैं। **उत्तरी अमरीका में वर्ल्ड असेम्बली ऑफ मुस्लिम यूथ (WAMY) नाम की संस्था है जो सऊदी अरब के पैसे से चलती है, यह कई विश्वविद्यालयों में पर्चे बाँटती रहती है।** इन्हीं में एक है ''इस्लाम में मानवीय अधिकार'' जिनमें इस्लामी देशों में क्या–क्या मंजूरियाँ मिल सकती हैं, इसका मीठा–मीठा वर्णन है। अब आपको जुल्म के खिलाफ आवाज़ उठाने का अधिकार हो सकता है। कहने से वह अधिकार मिल तो नहीं जाता। इन पर्चों में चौदह आज़ादियों के गीत गाए जाते हैं जिनमें बेलगाम कैद से सुरक्षा भी शामिल है। पर अगर आपको 'शिया मुसलमान' कह कर पहले ही निशाने पर रखा गया हो तो फिर आपको हुई कैद कानून के बाहर तो नहीं हुई, न ? जैसा पहले कह चुकी हूँ, सऊदी अरब में शियाओं को बेरहमी से दबाया जाता है।

WAMY के इसी पर्चे में अहम आज़ादी के बारे में लिखा है – ''कानून के आगे बराबरी।'' लेकिन **अगर कानून खुद भेदभाव की आज्ञा देता हो जो केवल वफा (निष्ठा) या लिंगभेद पर आधारित हो – तो क्या होगा ? वही 'बराबरी' की व्याख्या होगी। ऐसी स्थिति सऊदी अरब में है जहाँ कानूनन एक औरत अपना कोई भी व्यापार या पेशा नहीं कर सकती है और वह हमेशा 'नाबालिग' ही रहेगी।** इसका साफ मतलब है कि अगर कोई जादू हो गया और सारे 'बालिग' सऊदियों को मत का अधिकार मिला, तो फिर भी वह सिर्फ आदमियों को ही मिलेगा। आगे WAMY औरतों के बारे में कहता है, ''औरतों के साथ अत्याचार नहीं होना चाहिए, उनके सम्मान और पवित्रता की भी हर हाल में रक्षा करनी चाहिए।'' अब यही सम्मान का जुनून जब खुद ही अत्याचार करता हो तब क्या करें ? जो पढ़ रहे हैं, वह तो बस अत्याचारों को ही सही ठहराने की कोशिशे हैं। 'सद्विचार और विश्वास की आज़ादी और मज़हबी भावनाओं की रक्षा' इन शब्दों में ऐसी ही हाथ की सफाई दिखती है। WAMY तो इसे दुहराता ही रहा है और रेगिस्तानी इस्लाम हर कदम पर रौंदता रहता है। ये जो विद्यार्थी और अध्यापक हैं जो अपने आपको बड़े विचारक मानते हैं, **उनका मैं आह्वान करती हूँ कि इन सऊदी मुसाहबों से टक्कर लें जो कि इन उलटी–सीधी बातों में माहिर हैं।**

जो यहूदी, ईसाई और मुसलमान विद्यार्थी हैं उनके लिए इन 'सीधी बातों' का मतलब हो सकता है कि एक 'अब्राहिमी हज्ज' में मक्का चले जाएं। अब्राहम इन मज़हबों के जन्मदाता ही नहीं एक रसूल (प्रेषित) थे, कहते हैं कि उन्होंने काबा का उद्धार किया था। क्या कहा ? सिर्फ मुसलमान ही 'काबा' पर प्रार्थना कर सकते हैं ? फिर मुसलमान क्या हैं इसी की व्याख्या करनी होगी।

कुछ रोज़ पहले मज़हबों पर हो रहे चैट (अंतरताना पर वार्तालाप) सुन रही थी जिसमें इस विषय में भी कुछ खुलापन महसूस किया। इस बातचीत में एक मुसलमान ने यहूदी से कहा ''तुम यहूदी हो, इस्लाम का वैसे तो पालन

नहीं करते हो, पर मैं तुम्हें भी मुसलमान मानता हूँ क्योंकि तुम अपने आपको खुदा के हवाले करते हो और उसकी आज्ञा का पालन करते हो। शायद मैं यहूदीवाद के नज़दीक हूँ और तुम इस्लाम के नज़दीक हो क्योंकि हम दोनों उसी 'एक खुदा' में वफा (निष्ठा) रखते हैं जो अब्राहम पर प्रकट हुआ था।'' ऐसे वादविवाद, विचार जो इस 'अब्राहिमी हज्ज़' से प्रेरित होंगे तो, ये मक्का में एक 'वैश्विक रूप' ले आएंगे। ऐसा ही स्वर यरूशलम, रूस और जिनेवा (प्रोटेस्टंटों का उद्‌गम स्थान) में दिखाई देता है। अगर कहा जाए कि मक्का की खास पहचान को गैर मुस्लिम लोगों की प्रेरणा से खराबी होगी, तो मैं पूछती हूँ, क्यों ?

इस **अब्राहिमी हज्ज़** के प्रस्ताव पर सऊदी कुछ भी करते रहें किन्तु उन्हें भी ईमानदार होना पड़ेगा। **हाँ–हाँ करके फिर वीसा रोक देना, यह टालमटोल ज़्यादा नहीं चलेगी। बार–बार उन्हें इस छल का जवाब देना ही पड़ेगा।** उन्हें आह्‌वान देने का काम विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी ही करेंगे जो सऊदी अरब पर बातचीत करके इन बातों के माहिर हो चुके होंगे।

एक और सोचने वाली बात–अमरीकी विद्यार्थियों को भी अब्राहिमी हज्ज में ईरान के साथ मिलाप करना चाहिए। ईरान के अनेक विद्यार्थी विचारों से क्रांतिकारी हैं। वे सिर्फ 'अमरीका मुर्दाबाद' के ही नारे नहीं लगाते, वे इमामों के नीति पर एकाधिकार के खिलाफ भी आवाज़ उठाते हैं। वे इस्राईल के रेडियो प्रोग्राम भी सुनते हैं और इंटरनेट (अंतरताना) पर जाकर बाहरी दुनिया से भी संपर्क रखते हैं। चूँकि वे शिया हैं, इसलिए वे उन्हें यह आवश्यकता महसूस नहीं होती कि सऊदी अरब के सुन्नी शाहों की तारीफें करते रहें। **ऐसा भी नहीं है कि ईरान में वहाँ के अयातुल्ला सऊदी किस्म का आतंकवाद नहीं फैलाते।** वे करते हैं और शायद हिज़बोल्लाह उनके आभारी होंगे। पर यही अयातुल्लाह हैं जिनके खिलाफ ईरान के विद्यार्थी एक सशक्त परंतु ज़्यादातर अहिंसावादी आन्दोलन चला रहे हैं।

मेरे एक उन्तीस वर्ष की आयु के मित्र ने ईरान से ही ई–मेल करके मुझे मार्टिन लूथर किंग जूनियर का पत्र भेजा था। पत्र में उसने लिखा था कि जब आपके उदार अमरीकी दोस्त सऊदी अरब का पर्दाफाश करने से हिचकिचा रहे हों इस भय से कि मुसलमान नाराज़ हो जाएंगे, तो उन्हें लूथर के ही विचार सुना दें। उसने कहा था कि **मैं तनाव शब्द से नहीं डरता। मैंने हमेशा उत्पाती तनाव का विरोध किया है। परंतु एक शांत, आवश्यक तनाव भी होता है जो प्रगति के लिए ज़रूरी होता है। सुकरात ने कहा था कि मन में कुछ तनाव ज़रूरी है ताकि हम भुलावों, कहानियों और आधे सच से निकलकर ऐसे मुक्त वातावरण में जाएँ जहाँ प्रश्नों का विश्लेषण और मूल्यांकन हो सकेगा।'** ऐसे ही 'ऑपरेशन इज्तिहाद' प्रभाव डाल सकेगा, यही मेरी प्रार्थना है।

इस काम में कुछ बुनियादी, सरल परंतु कुछ धमाकेदार निडर सवाल ऐसे होंगे जो आम जनता के सामने रखे जाएंगे :–

- औरतों को सशक्त बनाने के विवादों में ''जिस खुदा को उसी के पूजने वालों के आधे पूजने वालों के खिलाफ हथियार बनाया जाता है, क्या उससे (ऐसे खुदा से) कोई प्यार कर सकेगा ? प्यार का कोई मतलब है कि नहीं ?

- सारे मीडिया के बारे में – ''क्या अनेक किताबें उपलब्ध होने से केवल भोगवादी और 'कचरा' टीवी के झूठे प्रचार को रोक लगेगी ? **क्या वजह है कि पिछले एक हज़ार सालों में पूरे अरब विश्व में केवल उतनी ही किताबें भाषान्तरित हुई हैं, जितनी स्पेन में हर साल छपती हैं ?** मिस्र में लिखी गई अच्छी किताबें, जिनमें मुसलमानों में बरदाश्तगी (सहनशीलता) की तारीफ की गई है, उन्हें वह (मिस्र) लाखों की संख्या में क्यों नहीं छाप कर फैलाता ?

- सऊदी अरब से अब्राहमी हज्ज के बारे में :– सऊदी अरब में ईसाइयत को काम करना मना है, परंतु वही सऊदी अरब 'मुस्लिम–ईसाई समझ केन्द्र' वाशिंगटन में चलाता है। यह किस 'समझ' के लिए चलाया जाता है और इससे कौन सी सीख उन्होंने (सऊदी अरब) अपने देश में लागू की है ?

मैं यह तो दावा नहीं करती हूँ कि यह 'धमाके' तानाशाही को एक ही झटके में खत्म करेंगे, परंतु कुछ देर ही सही, होते–होते असर हो ही जाएगा। सरकारी नालायकी और डगमगाती जन–सेवाएं देखकर टैक्स देने वाली औरतें कुछ रोक–टोक करेंगी। जानबूझकर औरतों पर, मज़हबी अल्पसंख्यकों पर और बाकी दूसरों पर हो रहे जुल्म छिप नहीं सकते, परंतु उजागर करके रोशनी में लाया जाएगा। बढ़ते विश्वास के साथ सवाल पूछने की ताकत भी बढ़ जाएगी, इन सारी बातों से मुस्लिम समाज लोकतंत्र की तरफ जाने के लिए अच्छी तरह से तैयार होगा।

आखरी नतीजे के लिए मैं एक ही प्रार्थना करती हूँ:– **''ऑपरेशन इज्तिहाद से दुनियाभर के लोग हिम्मत जुटाकर, कहीं भी होनेवाले वंश–संहार को देख समझकर उसके मज़हबी कारणों को रोक सकेंगे। जब तक बहुत बारीकी से न देखा जाए, हम यह समझ ही नहीं सकते कि वाहाबी विचारों की वजह से अरबी सूडान में कैसे जातीय या मज़हबी हिंसा पनप रही है।** वहीं तो ओसामा–बिन–लादेन ठहरे थे, अफगानिस्तान जाने के पहले। अभी भी काफी कुछ तो मालूम है, जाँच पड़ताल के लिए – एक वार्ताकार ने कहा है, ''सूडान में बीस लाख

लोग मारे गए हैं। हज़ारों बेघर हो गए हैं और लगभग एक लाख ज़बरदस्ती भूखे मार दिए गए हैं।'' ये भयानक कुकृत्य होते हैं, और हम उन्हें होने ही क्यों देते हैं ?

आज तक किसी भी अंतर्राष्ट्रीय एजेन्सी को उसकी अपनी ही अव्यवस्था से बाहर निकाल कर न्याय देने लायक नहीं बनाया गया है ताकि बड़े पैमाने पर होने वाले घृणास्पद गुनाह रोके जा सकें। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी रुआंडा में जनसंहार रोकने में अनिच्छा दिखाई। **वह तो सभी स्वतंत्र देशों को लोकतंत्र एक जैसा ही समझते हैं।** क्या संयुक्त राष्ट्र संघ सऊदी अरब में कभी ''वाहबी'' मत की जाँच करवाएगा ? **अभी जो 'अंतर्राष्ट्रीय अपराध न्यायालय' बनाया गया है, वह भी गुनाह होने के बाद ही काम करता है, अपने आप कुछ नहीं करता। जो भी हो, उनके पास भी 2003 के मध्य तक दो सौ मानवीय अपराध दर्ज हैं।**

आज तो मज़हबी उद्देश्यों से किए गए कत्ल का यही इलाज है कि अपने देश की न्याय–व्यवस्था का प्रयोग किया जाए। **कुछ दिन पहले ब्रिटेन में एक मुस्लिम मुल्ला को यहूदी, हिन्दू और अमरीकियों के कत्ल के लिए उकसाने के जुर्म पर सज़ा दी गई। मुल्ला की पढ़ाई सऊदी अरब में हुई थी। इंग्लैंड में इस तरह का यह पहला ही केस है–पर आखिरी नहीं।**

अब मैं यह तो जानती हूँ कि कोर्ट में जाना कभी–कभी सिर्फ जंगल में विलाप करने जैसा लगता है। **आपको याद होगा मुसलमानों ने फ्रांस में एक फ्रान्सिसी लेखक पर मुकदमा दायर किया जिसने इस्लाम को 'बेवकूफ मज़हब' कहा था,, वैसे ही इटली में एक महिला पत्रकार के खिलाफ भी मुकदमा दायर किया गया–क्योंकि उसने लिखा था, बाहर से आए मुसलमान बहुत ज़्यादा बच्चे पैदा करते हैं और इतालवी लोग तो बेवकूफ हैं, बच्चे बनाते ही नहीं।'' दोनों मुकदमे तो विफल हुए।**

मैं जो सऊदी अरबों के खिलाफ मुकदमा दायर करने की बात कर रही हूँ हो सकता है कि वे आपको ऊपर बताए दो केस या सलमान रुश्दी और तसलीमा नसरीन पर दायर किए गए केस जैसे न लगते हों। परंतु सऊदियों को ललकारना मूल इस्लाम का विरोध नहीं है–इरादा यही है कि रेगिस्तान में भी और तरह का इस्लाम पनप सके। **उन्हें पुकारने से शायद और महासंहार रुक जाए और कई देशों की सुरक्षा कायम रहे। अब तो यह हर एक का मामला है कि कुरान की व्याख्या कैसे की जाए–और कैसे नहीं की जाए।**

ऑपरेशन इज्तिहाद से अमरीका और यूरोप के बड़े देशों, दोनों का ही बहुत उच्चकोटि का फायदा होगा–इनके बीच की खाइयां कुछ कम हो जाएंगी। उससे समाज और बाज़ार के बीच भी एक संतुलन कायम होगा। मुस्लिम औरतों को छोटे उद्योगों में बढ़ावा देकर बहुत बड़ी नीति बनेगी। आम जनता के फायदे समान होंगे, न कि बड़े उद्योगों के जिससे जरूरत और हवस का भेद उजागर होगा। मुसलमानों का भावी जीवन का सहारा होगा–भूत काल के लिए मरने का विचार छोड़कर। विश्व कोश के एक अर्थशास्त्री ने कहा है **''जहाँ स्त्री–पुरुष बराबर होंगे, वहीं पर विकास और आज़ादी होंगे। जहाँ औरतें भागीदार होती हैं, वहीं शिक्षा, सेहत, उत्पादन, साख और शासन व्यवस्था अच्छे से काम करती है।'' अर्थात् भ्रष्टाचार कम होता है।**

कई लोग लगातार चिल्लाते रहते हैं, कि अमरीका अपने तेल के स्रोत बचाकर रखने के लिए ही अरबी मुस्लिम देशों में लोकतंत्र पर ज़ोर नहीं देता। यदि यह सही भी हो, तो भी उन्हें 'ऑपरेशन इज्तिहाद' में रुकावट नहीं करनी चाहिए। उन्हें अपने ऊर्जा के स्रोत अधिक बहुविध करके मध्यपूर्व के बाहर से ज्यादा तेल लेना चाहिए। ये स्रोत भी कई हैं। यह जान लें कि 'तेल की राजनीति' में कई पहलू और भी हैं – एक 'रियाध की राजनीति' भी है।

अमरीका पर भी दुहरा दबाव है। सऊदी अरब से तेल लेना बंद कर दें तो शाही अधिकार और मुल्लाओं को दान तो खत्म हो जाएगा। परंतु इस से मुल्लाओं का आज का विषैला प्रचार और भी तूल पकड़कर भयानक होगा। दूसरी तरफ अमरीका अगर रेगिस्तानी विचारों को नई दिशाओं और आर्थिक प्रगति की तरफ ले जाए, तो कुछ फायदा ही होगा, चाहे थोड़ा हो और आहिस्ता हो। कुछ नहीं करेंगे तो आगे चलकर अमरीका ही नहीं अगणित अन्य लोगों के लिए खतरा होगा। **अरबी खजाने खाली तो हो ही रहे हैं। सन् 1980 में प्रतिव्यक्ति आय तेईस हज़ार डालर थी जो अब सात हज़ार डालर ही रह गई है। सऊदी नौजवान मामूली सी मेहनत का काम करने से कतराते हैं और उनका शिक्षा या ज्ञान का स्तर नीचा ही रहता है, क्योंकि उनकी पढ़ाई तो सिर्फ मज़हबी रटन्त ही है।** अरबी समाज को तेल पर निर्भर रहना छोड़ना पड़ेगा। ऑपरेशन इज्तिहाद से सऊदी अर्थव्यवस्था भी कई दिशाओं में फैलेगी, हर इन्सान का सम्मान, सुरक्षा और आज़ादी बढ़ेंगे, खासकर औरतों का, जिनके छोटे उद्योगों में बढ़ने से रेगिस्तानी इस्लाम जड़ों तक हिल जाएगा।

इसकी शुरुआत सऊदी अरब में करना ज़रूरी तो नहीं है। इराक बहुत कुछ कर सकता है। उनकी साक्षरता का अंक मध्यपूर्व में सबसे ऊपर है। उन्होंने औरतों को भी समाज में बेहतर स्थान दिया है परंतु वहाँ उनकी अपनी ही मुश्किलें हैं । नए लोकतंत्र में अपना संविधान बनाना और चुनाव कराना, इससे ही मामले सुलझते नहीं हैं। अर्थव्यवस्था का शांतिपूर्वक बढ़ना ज़रूरी है, तभी तो सरकार को कुछ आमदनी होगी और वह समाज के लिए कुछ कर सकेंगे।

एक और बात याद रहे। जर्मनी में नाज़ीवाद पहले तो चुनाव से ही उभर कर आया। हिटलर, जर्मन जनता के अपमानित होने की भावना के कारण और लड़ाई के बाद आई अव्यवस्था का दुरुपयोग करके आगे बढ़े। हम इराक को उस दिशा में बढ़ने नहीं दे सकते। वहाँ की औरतें इस दिशा में क्या करती हैं, यह निर्णायक होगा।

एक और गुट है जो इस्लाम को सुधारने के लिए सजग है, वह है पश्चिमी दे□ों के मुसलमान। हम यहाँ की सारी सुविधाएं तो ले ही रहे हैं, खासकर विचार। फलस्वरूप यहाँ के मुसलमान कुछ करने को तैयार हैं।

अध्याय 8

सच्चाई की तारीफ में

सलमान रुश्दी ने मुझे 2002 में कहा था, ''मुझे यही याद है कि 'शैतानिक वर्सेस' के मुस्लिम पाठकों से, खासकर औरतों से, अनेक पत्र आए। दिल को हिलाने वाले पत्रों में उन्होंने 'दरवाज़ा खोलने' के लिए मेरा शुक्रिया अदा किया।'' यह भावना तो मैं भी जानती हूँ। **हफ्ताभर पहले सुधार के भूखे मुसलमानों का टोरंटो में सम्मेलन हुआ। ज़्यादातर औरतों ने 'हिज़ाब' (बुर्का) नहीं पहना था। पर इस्लाम के 'आगे क्या' और उसमें उनकी क्या जगह होगी इसी की उन्हें फिक्र थी।**

विद्रोही मुद्रा में एक सज्जन भाषण दे रहे थे, ''मेरी लाइब्रेरी में 30,000 किताबों की क्या ज़रूरत है ? क्या सारी किताबें एक ही बात कहती हैं ? हम मुसलमान अपनी मानसिक विरासत को ऐसे देखते हैं जैसे हर किताब बस वही 'सीधा सच' कहे जो कि इस्लाम है, और उसके आगे कुछ भी नहीं। **मानव जाति में मैंने जितने भी सबसे मूढ और बकवादी पदार्थ देखें होंगे, उनमें मुस्लिम 'विद्वान' सबसे आगे होंगे।** क्योंकि उनमें से हरेक आदमी यही कहता है कि ''पिछले सौ सालों से जो कहा जाता रहा है, वही बात वैसे ही लिखूँ, यही मेरे जीवन का ध्येय है।'' लगभग सारे ही सुनने वाले बात का मज़ा ले रहे थे।

आगे बढ़ते हुए 'अबू–अल–फादल' (वही प्रोफेसर जिन्होंने मुल्लाओं के विरोध में कुत्ते पाल रखे थे) ने कहा **''क्या आपने कभी ऐसे समाज को देखा है जो सबसे छोटी इकाई के प्रभाव से आगे बढ़ता है ?** ऐसा समाज जो मूर्खों के वश में हो–न कि बुद्धिमानों के। **समाज बनता है तो इसके विचार□ील् लेखकों से, उसके चित्रकारों से, सुंदरता और संगीत बनाने वालों से, और हर नए विचार प्रकट करने वालों से।''** मैं तो ज़ोर से समर्थन करना चाह रही थी पर बाकी लोग बड़े ध्यान से सुन रहे थे, इसलिए चुप रही।

एक बात की परेशानी थी। ऐसी बातें अगर किसी गैर–मुसलमान ने की होतीं, तो ज़रूर उसकी आवाज़ (या गर्दन) दबाने के लिए इन्हीं उदारमत के लोगों के ही हाथ उठ जाते, फिर उग्रवादियों का क्या कहना। इसमें कोई अजीब बात नहीं है। अगर काले ही अपनी कौम को 'नीग्रो' कालू कह दें तो चल जाता है पर अगर वही शब्द किसी गैर–काले ने कहे तो तूफान खड़ा होता है। चाहे किसी का दिल दुखाने के लिए न कहा गया हो। कहीं ऐसा तो नहीं है कि 'गैर–मुसलमान ही अपने आप पर अंकुश लगाए रखते हैं।

डेनमार्क में चल रहे मुस्लिम चरमवाद की चर्चा हो रही थी। मेरे मित्र ने कहा – ''ये तो सारे ही मुसलमानों को एक–सा ही मानते हैं।'' वह जिस पत्रिका की बात कर रहा था, वह मैंने पढ़ी थी, इसलिए मैंने कहा कि वह तो बस छिपी हुई बातों पर रोशनी डाल रहे हैं। उसने तुंरत बात मान ली। मैंने अपना दुखड़ा सुनाया था कि **डेनमार्क में सिर्फ मुसलमान डेनमार्क के उदार मत से गलत फायदा उठा रहे हैं** और मुख्यधारा के लोग चुप रह कर उन्हीं के गलत बर्ताव का समर्थन कर रहे हैं। **पाँच प्रतिशत मुसलमान हैं पर वही सरकार से दिए जाने वाले भत्तों में से चालीस प्रतिशत धन खींच लेते हैं। इस बात पर सोचें कि जब मुसीबतें पैदा करने वालों को ही सरकार जीने के लिए पैसा दे रही है तो उसके बदले में वे अपने आपको संगठित करने और अपने मन्सूबे पूरे करने में ही व्यस्त रहेंगे।** मेरे मित्र ने मेरे अंदर छिपे 'मुस्लिम' को दर्द न हो इसलिए वैसा कहा था। पर यही बात हमारे हज़ारों मुसलमानों के लिए भी लागू है।

अब सुनो – **इस्लाम को इस्तेमाल करने के कई तरीके हैं। कुछ मुसलमान इसे तलवार की तरह प्रयोग करते हैं और गुंडे कहलाते हैं। कुछ उसी को एक 'ढाल' की तरह प्रयोग करते** हैं पर इससे भी बड़ा नुकसान होता है। इस 'ढाल' से मुसलमान तो आत्मालोचन (सैल्फ इंक्वायरी) से बचते हैं और गैर–मुसलमान किसी दोष की भावना से बचे रहते हैं। यही **'ढाल वाले' मुसलमान, दूसरों को कहते रहते हैं, ''तुम लोग कभी इस्लाम को नहीं समझोगे।''** मतलब यह कि मैं तो असुरक्षित मुसलमान हूँ, मैं नहीं जानना चाहता तुम कहाँ से आए हो – या ''हम लोगों को तुमने कई बार जातिवाद में फँसाया है और फिर हमारे लिए परेशानी बनोगे।'' मतलब–हमारी ताकत तो है नहीं – यही हमें बताया गया है।

ये सारे नाटक मैं कई बार देख–सुन चुकी हूँ इसलिए सीधी बात करूंगी। **सालों साल से पश्चिम में रहने वाले मुसलमान इसी बात का फायदा उठाते आए हैं कि आम जनता इस्लाम के बारे में कुछ नहीं जानती। इसीसे वे हर हालत में हर कीमत पर अपने आपको प्रमाणित करवाने के लिए रोते रहते हैं।** एक पत्रकार ने ब्रिटेन में 11 सितम्बर 2001 के पहले ही कहा था कि, ''एक दूसरे के बीच कोई दखल न दें, ऐसी भावना से तो समाज बन नहीं सकता, यह गलत ही नहीं नामुमकिन भी है। अब हम सारे ही एक–दूसरे से जुड़े हैं, अपनी 'ढाल' अलग

रखकर हमें खुले समाज का हक मानना पड़ेगा, एक–दूसरे से सवाल करने होंगे, सुनने होंगे। कभी चुभते हुए सवाल भी होंगे, कभी सबके सामने भी।

इसी भावना से हमें अपने दिमागों को सुन्न करने वाले नुस्खों से बचना चाहिए। मुझे बराबरी सिर्फ गिनती की नहीं चाहिए। पर उस **कबाइली नीतियों के इस्लाम से निकलना है। दुनिया के मुस्लिम देशों का मानवीय–अधिकारों के बारे में बहुत खराब रवैया रहा है। इस में औरतों के हक भी शामिल हैं। औरतें नहीं तो अनेकता नहीं और बदलाव भी नहीं।** पर कोई यह बात सामने लाता ही नहीं। बड़े सवाल उठते नहीं और छोटी परेशानियाँ सामने आती रहती है।

खुले समाज तभी खुले रहते हैं जब आम जनता खुल कर सवाल पूछ सकती है। जैसे **''फ्रांस ने हिजाब (बुर्का) पर रोक लगाई तब हज़ारों मुसलमान रास्तों पर आ गए पर इन्हीं में से क्या एक ने भी उस वक्त आवाज़ उठाई, जब सऊदी अरब ने ज़बरदस्ती हिजाब पहनने का हुक्म निकाला था ?** जब मुसलमान कहते हैं, **''हमारा लोकतंत्र हमारे तरीके से चलता है'' तो उन्हें यह पूछना चाहिए, ''इस लोकतंत्र में क्या औरतों या मज़हबी अल्पसंख्यकों के वाकई में कोई अधिकार है ?''** इस नाटक में गैर मुसलमान भी शामिल हैं। जैसे ही कोई मुसलमान बातें करता है वे चुप्पी साध लेते हैं।

जनवरी 2003 में टोरंटो में एक सभा हो रही थी, जिसमें इराक के लड़ाई का विरोध मुख्य मुद्दा था। उसमें मुख्य वक्ता मज़हबी सरकार के प्रशंसक थे। लोग चिल्ला रहे थे, नारेबाज़ी हो रही थी, सीटियां बज रही थीं और ज़ोर–ज़ोर से आवाज़ें उठ रही थीं। मेरे मन में यही विचार आया, अगर इनके पसंद वाले मज़हबी तंत्र की सरकार हो जाती तो ऐसा चिल्लाना कहाँ बर्दाश्त होता !

आप कुछ दान तो करते ही होंगे। उसकी सच्चाई पर भी कभी सोचते हैं? कहा गया है कि **''दान करने वाली अनेक संस्थाओं के धन से अनजाने में मदरसे चलाए जा रहे हैं और ऐसा प्रचार होता है जिसमें कहते हैं कि आदमी ज़रूर मस्जिद में जाए और औरतों को पर्दे में रहना चाहिए, सहशिक्षा खत्म हो, लड़कियों को खेलकूद, शास्त्र या कला–शिक्षा से दूर रखो। और वही द्वेष फैलाने वाली शिक्षा का प्रसार करते हैं।''** इन दान की इच्छुक संस्थाओं के नाम से तो बिल्कुल ही प्रभावित न हों। यद्यपि अच्छे–अच्छे नाम होते हैं पर सारे ही इस्लामी आतंकवाद में डूबे हुए हैं। ओटावा (कनाडा) के 'अंतर्राष्ट्रीय मानवीय चिंता' नाम की मुस्लिम संस्था के **संचालक ने कनाडा के मुसलमानों से बहुत से पैसे और गहने ऐंठ लिए, यह कहकर कि हम मानवीय दुखों को कम करेंगे। किसी को भनक नहीं थी कि वह अल–कायदा का वरिष्ठ अधिकारी था।** उसके पकड़े जाने के बाद इस संस्था ने उसे तो बरखास्त कर दिया पर उसने अपनी अन्य संस्था चालू कर दी – ''अंतर्राष्ट्रीय सेहत एवं शिक्षा योजना'' के नाम से। मैं यह तो नहीं कहती हूँ कि दान मत देना, सिर्फ यह सोचिए कि क्या आपके दान सही जगह ही जा रहे हैं ? एक सवाल बार–बार उठता है जब कुछ लोगों से (जैसे मुसलमानों से) उचित सवाल किए जाते हैं तब सवाल पूछने वाले को ही नस्लवादी कह कर बुरा कहते हैं। पर वैसे ही सवाल गैर मुसलमानों से पूछते हैं तो पूछनेवाला नस्लवादी नहीं बनता! अब अमेरिका या इस्लाम, इनमें सिर्फ एक रंग के लोग तो नहीं हैं। ये दोनों ही वस्तुतः नस्ल भी नहीं हैं फिर सच्चाई क्या है ? तीन बातें हैं :–

- **एक** – अमरीकी लोग अपने आपको एक ही विचार से सीमित रखना चाहते हैं – 'आज़ादी'। इसी पर हम अमरीकियों से सवाल करें तो हमें कोई 'नस्लवादी' तो नहीं कह सकते। इसी तरह इस्लाम से पूछे गए सवाल भी नस्ल से संबंधित नहीं होने चाहिए। इस्लाम की पूरी आबादी की विविधता को देखा जाए तो वह भी नस्ल नहीं बनती। जो मुसलमान सवाल पूछे जाने पर फौरन नस्लवाद का मुद्दा उठाते हैं वही इस कहानी को बढ़ावा देते हैं कि हम एक ही जगह से आए हैं।

- **दो** – गैर–मुस्लिम अमरीकियों से सवाल पूछना तो उचित समझा जाता है परंतु मुसलमानों से नहीं। अगर आप पश्चिमी नौकरशाही से अलग मत रखते हैं तो आपसे कोई मारपीट तो न करेगा। जब एक अमरीकी पत्रिका ने अल कायदा की संख्या के बारे में एफ.बी.आई. की सूचना को केवल एक खोखला अंदाज़ा कहा था तो किसी ने उस पत्रिका के दफ्तर पर हमला तो नहीं किया। **पर जब नाइजीरिया में ऐसे ही हुआ तो उस पत्रिका के दफ्तर को आग लगा दी गई।** अमरीका में उनके राष्ट्रपति बुश के खिलाफ बातें कहना कोई गुनाह नहीं होता जबकि सऊदी अरब या कुवैत से अल–जज़िरा के रिपोर्टरो' कों **ऐसी ही बात पर** बाहर निकाल दिया गया था। वैसे तो अमरीका में ईश्वर (गॉड) का भी मज़ाक उड़ाया जाता है पर उसे न तो एफबीआई पकड़ती है न ही ईसाई कार्यकर्ता। किसी मुस्लिम देश में अल्लाह की बात तो छोड़िए उसके रसूल का भी कोई ज़रा सा भी मज़ाक उड़ाए तो कहर मच जाता है। ***(पाठकों को डेनमार्क के पत्रिका की बात तो याद होगी!)***

अमेरिका में भी सरकारी तंत्र में कई बार गलतियां हो जाती हैं–मारपीट, धर–पकड़, टेलीफोन टैप होना या और बहुत कुछ, लेकिन रोज़ाना इस पर भी चर्चा होती है। हम इन बेवकूफियों को जानते हैं क्योंकि वे बार–बार हमारे सामने

रखी जाती हैं। किन्तु उन्हें उजागर करने वाले को यह डर तो नहीं है कि उसके हाथ काट दिए जाएंगे या ज़बान काट दी जाएगी ? शायद इसी आज़ादी की वजह से जिसे हम वहाँ अधिकार समझते हैं, हम उन्हें ही अपना निशाना बना कर इस्लामी देशों को नज़र अन्दाज़ कर देते हैं। यही तो गैर–मुस्लिमों को अपने आप से पूछना चाहिए।

- **तीसरी बात** – अमरीका पर टीका–टिप्पणी करना हम 'सभ्य' समझते हैं पर मुसलमानों पर नहीं क्योंकि अमरीका में जिन पर टीका हो रही है वे सुनते भी हैं और कई बार अपनी गलती भी मान लेते हैं। सन् 2002 में जब एनरॉन में पैसे का बहुत गोलमाल हो रहा था तो सीएनबीसी ने बार–बार इस मुद्दे को उजागर करके सारे गोलमाल को जनता के सामने रखा। छः महीने के बाद 'टाइम' पत्रिका ने इन 'खबरदार' करने वालों को खास इज्ज़त देकर सम्मानित किया। ये सभी औरतें थीं और कानून, न्याय और राजनीति के विभागों ने इन विवादों पर पूरी तरह ध्यान देकर सभी से गहरा सोच–विचार भी किया। **किन्तु मुस्लिम देशों में भ्रष्टाचार मिटाने के लिए कहाँ सम्मान मिलेगा और वह भी औरतों को ?**

अब हम पश्चिम वासियों की ही ज़रूरत है कि इस्लाम के बारे में 'खबरदार' करने वालों के खिलाफ नस्लवाद का आरोप लगाना बंद कर दें और बदलाव और सुधार की तरफ 'आगे कूच' करें।

बदलाव लाने का मतलब सिर्फ इतनी ही बात से पूरा नहीं होगा कि **कुरान को केवल अक्षरशः नहीं पढ़ा जाए।** बाप अपनी बेटी को सिर्फ इसलिए मार देता है क्योंकि उसने मज़हब के बाहर शादी की है। एक अपाहिज (अपंग) औरत के साथ बलात्कार करने वालो को छोड़ दिया जाता है क्योंकि ''उनका सामाजिक रीति–रिवाज़ अलग है।'' ऐसा क्यों है कि मानवीय अधिकार सिर्फ गैर मुसलमानों की ही संपत्ति है ? पश्चिमी लोग बहु–सभ्यतावाद के विचार को लेकर पूरे झुक जाते हैं। दूसरों की सभ्यता को समझना हम अपनी शक्ति मानते हैं पर उसीको ये 'बुनियादी जनून' वाले हमारी दुर्बलता ही समझते हैं–जो हमें नरम, मंद बुद्धि और दिशाहीन बनाते हैं। वे तो यही समझते हैं कि जो दुर्बल है उसे खत्म करना है और जितना हम उन्हें समझने समझाने या समझौता करने की कोशिश करते हैं उतना ही वे हमारा तिरस्कार करते हैं। अब हम इसी दुविधा में हैं कि **हमारी विविधता कायम रखने के लिए हमें शायद कम उदारता दिखानी पड़ेगी।** कम से कम हमें ज़्यादा जागरूक तो होना ही चाहिए।

जागरूकता के ही विषय में एक धार्मिक सवाल उठता है (जो शायद मज़हबी नहीं) – कौन सा जीवन मूल्य हमें आधार बनाना चाहिए ? जो सैंकड़ों विचार या मत हैं उनमें से कौनसा हम चुनें जो हमारे **मुक्त बात करने का सार हो** ? अब यहाँ गोलमाल 'सहनशीलता' या 'आपसी आदर' यह नहीं चलने वाला। **हिंसा पर तुले कट्टरवाद के प्रति हम सहनशीलता क्यों दिखाएं ?** इस प्रकार के व्यवहार में कहाँ हैं 'आपसी' आदर या सद्भाव ? **फ्रांस के अमीन मालूफ कहते हैं, ''प्रथाएं तभी आदर के योग्य हैं जब वे खुद आदरणीय हों** अर्थात् उस प्रथा में भी आदमी और औरतों के बुनियादी हक का आदर होता हो।'' हम मुसलमान हों या पश्चिमी गैर–मुसलमान, हमें यही निश्चय करना होगा कि इस तरह की बुद्धि की बात समझने वाला मूल्य बनाएं और फिर वहाँ से शुरूआत करें। जो भी बात इस मूल्य की दिशा में न ले जाती हो, उसे कभी भी बरदाश्त नहीं करें। **बस बात खत्म।**

इस तरह तो इस्लाम के कई विचार इस जाल में फँस सकते हैं। फँसने दो। इसी बात पर एक घटना बताना चाहती हूँ जिससे साफ हो जाएगा कि क्या सहन नहीं करना है। **सन् 1999 में ब्रिटेन के मैकनाली के एक नाटक में ईसा को 'समलिंगी' दिखाया गया था।** इस पर कई ईसाइयों ने अपने मुक्त विचार का प्रदर्शन करते हुए नाटक के खिलाफ धरने दिए। पर वहीं की शरिया अदालत के काज़ी ने अपना ईमान दिखाने की हद कर दी। उन्होंने लेखक के खिलाफ मौत का फतवा जारी कर दिया, जिसमें इंग्लैंड के चर्च को भी फटकार दी थी कि उन्होंने ईसा और उसकी मां के सम्मान की भी परवाह नहीं की। इसकी अनेक प्रतियां भी लंदन में बाँटी गई। क्या यही 'खुला विचार' है ? इससे तो लेखक के विचार स्वातंत्र्य ही नहीं उसकी जिन्दगी ही खत्म हो जाती।

हाँ इस फतवे में यह ज़रूर कहा गया था कि लेखक को मौत की सज़ा किसी इस्लामी देश में दी जाए। यह भी कहा गया था कि बचना हो तो इस्लाम कबूल कर ले। सिर्फ अफसोस ज़ाहिर करने से मौत तो नहीं टलती, पर उसके परिवार की देखभाल की जाती और उसे कब्रिस्तान में जगह मिलती। वाह, कितनी खुशी की बात है।

अब यह बताइए कि ऐसे फतवे के बाद उस काज़ी को क्यों ब्रिटेन में रहने दिया जाए ? ब्रिटेन की मुस्लिम कौन्सिल ने कहा कि बीस लाख में से केवल एक हज़ार मुसलमान इस काज़ी साहब के समर्थक हैं। फिर तो उस काज़ी को देश से बाहर निकाल देने और उस पर मुकदमा चलाने में ब्रिटेन, केन्या, या पूरे पश्चिम के मुसलमानों को कोई कष्ट नहीं होना चाहिए, क्योंकि इस्लाम के वे सारे हिस्से जो यकीन न करने (disbelief) की आज़ादी का समर्थन करते हों, अपने विचारों के अनुसार चलने देते हों–वही हमेशा के लिए कायम रहेंगे, सिर्फ रेगिस्तानी इस्लाम ही नहीं रहेगा। इससे हमें तो शांति ही मिलेगी।

मैं यह प्रस्ताव रखना चाहती हूँ कि हम पश्चिमी लोग एक जीवन मूल्य पर राज़ी हो जाएं जो है–व्यक्तित्व का अधिकार। जब हम व्यक्तित्व का स्वागत करेंगे तो सभी को यह आज़ादी मिलेगी कि वह क्या होना चाहते हैं चाहे किसी भी मज़हब के हों या नहीं हों या दोनों। शायद इसमें अमरीकी विचार की झलक लगे पर यह ज़रूरी नहीं। **व्यक्तित्व में**

कोई स्वार्थकी भावना न हो तो वह पूरे समाज का कल्याण कर सकता है। सभी देशों को इस भावना का आदर करके सोचना चाहिए।

यूरोप में डेढ़ करोड़ से ज़्यादा मुसलमान हैं पर **आज भी जर्मनी में उन्हें दूसरी–तीसरी पीढ़ी के देशांतर करने वाले ही माना जाता है।** यूरोप वाले यह क्यों नहीं समझते कि आज यह ज़रूरत है कि इसके पहले कि वे यूरोप के शहरों में पहुँचे वे अरबी मुसलमानों को लोकतंत्र सिखाएँ। फिर उन अरब देशों के खिलाफ आवाज़ क्यों नहीं उठाते हैं जहाँ सुन्नी अल्पसंख्यक शिया बहु–संख्यकों पर हुक्म चलाते हैं। अब इस रंगभेद के खिलाफ क्यों नहीं उठती आवाज़ें ? विश्व में मानवीय अधिकारों का हनन होता है तब क्यों नहीं आप बड़े पैमाने पर हर जगह प्रदर्शन करते ? शायद आप कहेंगे कि यह विश्वभर का मसला नहीं है। पर जाग जाओ। **आज़ाद 'विश्व समाज' का मतलब सिर्फ एक समाज नहीं है। मैं चुनने की अपनी आजादी को बनाए रखना चाहती हूँ।** चाहे मैं कहीं भी खाना खाऊँ, कुछ भी पहनूं या सुनूं या कहीं भी सफर करूं। मुझे इन बातों के लिए अपने बाप की इजाज़त लेने की ज़रूरत नहीं पड़े। अगर इस्लामी 'बुनियादी जनून' के अंदर रहना पड़े तो इसका मतलब होगा कि चुनने की आज़ादी नहीं है। कई समृद्ध देश या लोग इन दोनों विचारों को वैश्वीकरण के साथ जोड़ने की गलती करते हैं, उन्हें इन बातों के फर्क का पता ही नहीं है।

यूरोप आज सभ्यता की गहराइयों में ऐसा फँसा है कि उनकी आँखें पूरी तरह देख नहीं पाती हैं। आज की पश्चिमी सभ्यता में मुसलमानों का भी बड़ा हिस्सा है। उन्होंने ही यूरोप के पुनरुत्थान को बढ़ावा दिया था। यहूदी, ईसाई, और बाकियों से भी काम लिया था जो यूनानी, और आसपास के सभी रीतिरिवाज़ों से विचार लेते थे। हमारी वैश्विक जिम्मेदारी तो यही है कि इस बात को छोड़ दें कि किसका कौन सी पहचान पर अधिकार है बस आने वाली पीढ़ियों को यही बता दें कि आपस में हमारा एक दूसरे के प्रति क्या कर्ज़ा निकलता हैं।

इस उद्देश्य से मैं वहीं खत्म करना चाहती हूँ जहाँ से शुरू किया था। मेरे लिए 'पश्चिम' ने जो भी किया है या बहुत से मुसलमानों के लिए किया है उसी के एवज में मेरा फर्ज बनता है कि **मैं भी इस्लाम में बदलाव और सुधार लाने का पूरा इरादा रखूँ। पूरे ईमान के साथ मेरे साथी मुसलमानों, तुम्हें भी यही करना है।**

अध्याय–9

पश्चिम के लिए ऐ खुदा, तेरा शुक्रिया

हर शुक्रवार के दिन टोरन्टो विश्वविद्यालय मे नौजवान मुसलमानों को वहाँ के शिक्षार्थी भवन में प्रार्थना करने की सहूलियत दी गई है। उस दिन वहाँ लगे मशहूर व्यक्तियों के चित्रों को खास बनाए पर्दों से ढक दिया जाता है ताकि प्रार्थना करने वाले का ध्यान खुदा की तरफ ही रहे, उसके बंदों की तरफ नहीं। ख्याल आता है कि क्या तालिबान कभी किसी हाल में बामियान बुद्ध मूर्तियों को उड़ा देने के बजाए उन्हें ढक नहीं सकते थे ? क्या नौजवान मुसलमानों को कभी यह भी अहसास होगा कि उनके साथ यहाँ पश्चिम में कितना अच्छा व्यवहार होता है।

'यहाँ' का मतलब सिर्फ टोरन्टो से नहीं है। जहाँ भी देखूँ – खुलापन, आज़ादी है, अपने मन के अनुकूल व्यवहार कर सकते हैं। पूरे अरबी लिबास में एक जनाब घूम रहे थे। पूछा तो बताया कि वह हर जुम्मे अपने अरबी कपड़े पहनता है, बिना किसी रोकटोक के। एक और महिला को देखा – पूरा बदन, हाथ तक काले कपड़ों से ढका था किन्तु भीड़ होने के बावजूद कोई भी उसकी तरफ खास ध्यान नहीं दे रहा था।

मुसलमानों के खिलाफ हो रहे अत्याचार की कहानियों से बिल्कुल विपरीत थी ऐसी घटनाएं। 11 सितम्बर 2001 के हादसों के बाद कुछ जगह ज़रूर 'अरबी लगने वाले' लोगों के खिलाफ गुस्सा दिखाया तो गया है परंतु जब ऐसा होता है तो उन्हें तुरंत इस परेशानी के विरुद्ध 'मीडिया' को खबर करनी चाहिए। मुझे खुद 'खाड़ी लड़ाई' के दौरान एक सरकारी भवन से निकाल दिया गया था, बिना कारण बताए। मैंने तो इसकी रिपोर्ट कर दी थी।

इस दीवानगी के विपरीत जो मुसलमानों के प्रति **सद्भावना** की लहरें उठती हैं, उन पर कभी प्रतिक्रिया नहीं होती, उसका हिसाब नहीं होता, उसका कभी प्रचार नहीं होता!

अमेरिका में सितम्बर 11 के तुरंत बाद यह सभ्यता पूरी तरह उभरी थी जब ईसाई और यहूदी पादरियों ने मुस्लिम नेताओं से संपर्क करके पूरी मदद की थी। बहुपंथीय प्रार्थनाएं, प्रेस कॉन्फ्रेंसें हुई और परेशान मुसलमानों की मदद के लिए धन एकत्रित करना वगैरह भी किया गया। उस हादसे की रात को ही टोरन्टों के नामी मंत्री जी ने उनका हाल पूछा और कुछ परेशानी हो तो मदद का आश्वासन भी दिया। अगले तीन–चार दिन मेरे यहूदी मित्रों ने भी मेरे ठीकठाक होने के बारे में पूछताछ की। कई जवान मुसलमानों से बात की तो यही पता चला कि सभी साथी, शिक्षक, पड़ोसी या बात करने वाले पूरी कोशिश करके किसी भी तरह की बुरी भावनाओं का सामना करने की तसल्ली देते रहे।

मैंने तो इस अच्छे व्यवहार की खबरें पुलिस, नस्लवाद–विरोधी संस्था, राष्ट्रीय रेडियो और विचारकों को दीं। इस अच्छी खबर का क्या करें, किसी को भी यह मालूम ही नहीं था। किसी ने पूछा, क्या होना चाहिए ? मैंने सोचा जैसे मुसलमानों में मौजूद अलग–अलग भावनाओं की पहचान होनी चाहिए, वैसे ही पश्चिम की भावनाओं को भी समझने की ज़रूरत है।

इस्लाम और पश्चिम एक दूसरे से अलग नहीं रहना चाहते। वाशिंग्टन विश्वविद्यालय में एक इमाम साहब हैं, अमरीकी सेना में कई मुसलमान हैं, अमरीकी डाकसेवा ने 2002 में 'ईद' के मौके पर खास डाक–टिकट भी जारी किया। शायद यह केवल दिखावा हो, परंतु उसी डाकसेवा विभाग में अज़ीज़ अली जाफर एक उपप्रधान (जनसेवा) भी हैं। उत्तरी अमरीका की इस्लामिक सोसाइटी वाले इस बात को मानते हैं कि इस देश में मुसलमानों को हर जगह आने–जाने और काम करने की सुविधा है। चाहे वह राजनीतिक स्थान हों, आम जनता के या राष्ट्रपति भवन के खास काम हों। इस तरीके को सऊदी अरब में **'बाहर'** के लोगों से किए गए बर्ताव से तुलना करके देख लें।

रेगिस्तानी इस्लाम से निकाले गए, उनके मत के विरोधी लोग कैसे जीवन यापन करते हैं ? बहुत से तो अमरीकी कॉलेजों में पढ़ाते हैं, लिखते भी हैं। मैंने अपनी ही रिश्ते की महिला से पूछा, 'क्या अमरीकी मुसलमान बनके रहना आज मुश्किल है ?' वैसे वह बुश साहब के 'टेक्सास' में रहती है। उसने कहा 'नहीं तो। आत्मविश्वास हो तो नहीं, परंतु छिपकर नहीं रहना चाहिए।'' 11 सितम्बर को वहीं (टेक्सास) एक इस्लामी स्कूल में पढ़ाती थी। उस वक्त समाज की प्रतिक्रिया के बारे में पूछा तो कई बातें कहीं। साधारण टेक्सास की जनता ने उन्हें सहानुभूति भरे पत्र, कार्ड और फूल भी भेजे। एक और इस्लामी सेंटर के मज़हबी निर्देशक ने ऐसी ही बातें कहीं। शायद कोई इन महान् भावनाओं का खुलेपन का और सहानुभूति से भरी बातों का वर्णन लिखे। ऐसी सज्जनता का आदर करना, कहाँ नस्लवादी कहा जाएगा ?

मुझे सबसे ज़्यादा खुशी होती है जब लोग इस्लाम के अनोखेपन को पहचानने की कोशिश करते हैं। सितम्बर 11 के बाद कुरान की प्रतियां धड़ाधड़ बिक गईं। उत्तरी कैरोलाइना विश्वविद्यालय ने, कुरान के बारे में एक पुस्तक तो पढ़ें, ऐसा नियम बनाया। वहीं की एक शिक्षार्थी लड़की ने बताया, ''मैं ऐसा सोचती हूँ कि अगर आप ऐसी बातें ले लें जो आपकी नहीं हों और उन्हें आप शायद न भी मानें, परंतु उन्हें पढ़ने के लिए भी तैयार न हों तो आपको उच्च शिक्षा संस्थान में रहने का अधिकार नहीं है।''

जानकारी और खोज की इच्छा रखना यही वह प्राणवायु है जिसके लिए मैं अमरीका की अनंत आभारी हूँ। अधिकांश मुस्लिम–विश्व में अगर आप अपने काम से ज्यादा जानते–समझते हैं तो आपको 'कम' माना जाता है। इसके विपरीत अमरीका में सब क्षेत्रों में सब तरह से बढ़ने का मौका दिया जाता है और कई लोग यही करते भी हैं।

अगर मैं एक मुस्लिम देश में बड़ी होती, तो मन से शायद नास्तिक होती। परंतु मैं दुनिया के इस कोने में जी रही हूँ, जहाँ मुझे सोचने का, वादविवाद करने का और किसी भी विषय की गहराई तक पहुँचने का अधिकार है इसीलिए मैंने यह सीखा है कि मैं इस्लाम को फिलहाल क्यों न छोड़ूँ!

इतने सारे शोध के बाद कुरान की मेरी निजी व्याख्या से मुझे तीन संदेश मिलते हैं।

- एक–**सिर्फ खुदा ही किसी भी विषय के सच को जानता है।**
- दो–सिर्फ खुदा ही 'न मानने वालों' (गैर–मुस्लिमों) को सज़ा दे सकता है (आखिर वही जानता है कि सच्चा विश्वास क्या है) और कुरान के **पहाड़ों के बदलते मौसम जैसे विचारों** के देखते हुए वही जानता है कि यह सब इकट्ठा कैसे हो गया।
- तीन– अंततः हमारी नम्रता ही हमें, ''खुदा की क्या मर्जी है'', इस पर सोचने की आज़ादी देती है, किसी और की बताई सीमाओं का कोई महत्त्व नहीं।

कुरान के दूसरे अध्याय में कहा है **''मज़हब में कोई ज़बर नहीं होता।** आगे है सूरा 109 में– **'तुम्हारे लिए तुम्हारा दीन और मेरे लिए मेरा दीन'** इसी के बीच में है, **अगर खुदा चाहता तो तुम्हें एक नस्ल में पैदा कर सकता था। मगर उसने ऐसा नहीं किया।''** कितनी सच बात है।

मेरी व्याख्या के बाद यह तो साफ होगा कि मैं एक मुसलमान होते हुए, इस्लाम के इन तानाशाहों के बारे में चुप न रहूँ। चाहे वह ओसामा बिन लादेन जैसे चरम पंथी हों या मेरे मदरसे के शिक्षक जैसे हों। ये लोग अपनी मर्जी से ही अपने विचार बनाने के बाद पलट कर बाकी लोगों को वैसा ही करने यानी सोचने से रोकते हैं। कुरान में जो **'खबरदार'** करने को कहा है, उसे यही लोग **'धमकाने'** में बदल देते हैं। मेरे विचार से सिर्फ हमें शोध करने की आज्ञा नहीं होनी चाहिए, वह सबके लिए होनी चाहिए। ऐसा न हुआ तो खुदा की खुदाई और सर्वोपरि न्यायाधीश होने के विचार को ठेस पहुँचेगी। ऐसा व्यक्तिगत, स्वतंत्र विचार करना तर्क के अनुसार है, सही है और मेरे पश्चिमी होने के नाते बने आदर्शों के अनुरूप है।

मैं बात कर रही हूँ **''अनेकमतवाद''** की केवल, **'उपभोक्तावाद'** की नहीं। हम अगर यह सोचें कि पश्चिमी आदर्श हमें केवल नए–नए झक्कीपन में फँसाते हैं तो यह बताइए कि मैं क्यों नहीं इस धारा में बह गई। केवल अपनी इच्छाओं को पूरा करना सीखती तो उस वक्त क्या होता जब मेरे साथी ने मुझे उस नाइजीरियाई लड़की को खबर देकर ललकारा था। मैं तो विचारों की आज़ादी को अहम समझती हूँ और उसके 'पूछने के अधिकार' की भी कद्र करती हूँ। क्या आप ऐसा करते हैं ? या ऐसी बातों के खिलाफ हमें परेशान कर रहे हैं कहकर मुकदमा करते हैं? क्या वह साथी मुझे चुप कराना चाहता था या मैं 'अपनी विचारशक्ति सें इस प्रश्न को सुलझा लूँगी', इस बात में विश्वास का इशारा कर रहा था ?

अब एक सवाल आपमें से **'सेकुलर मानववादियों'** के लिए। आपकी नास्तिकता के चुनाव का मैं आदर करती हूँ, पर मैं अपना मज़हब अचानक क्यों छोड़ देती ? मज़हब ने मुझे कई मूल्य दिए हैं–जैसे अनुशासन–जिसने मुझे पश्चिम के शरीर सुख की तरफ झुके जीवन को चुनौती देने की शक्ति दी। यही चुनौती मुझे सोचते रहने के लिए उत्साहित करती रहती है। मज़हब और भौतिकता के बीच का तनाव मुझे विकल्प ढूँढने और किसी बुनियादवाद में न फँसने में मदद करता है, चाहे वह स्त्री प्रधान, राष्ट्रवादी या बहु–पंथीय बुनियादवाद हो। मज़हब ने मुझे विवश किया है कि मैं किसी के सामने न झुक जाऊँ–सिवाय खुदा के, जो मेरे अंतःकरण में लहराता रहता है–इस अपार चंचल दुनिया में कितनी बड़ी कला है यह। एक और अच्छी बात मुझे मज़हब ने सिखाई है वह है शक्ति और तानाशाही के फर्क को समझना।

कई लोग जो सारी ही श्रद्धाओं को विवेकरहित ठहराते हैं, वह खुद ही इसी विवेकहीनता में फंसे हुए होते हैं। तस्लीमा नसरीन ने जो एक स्त्रीवादी है और डॉक्टर भी, मुझे बताया,

''मरने के बाद कुछ नहीं है–मर गए सो मर गए–सब खत्म।''

''शायद सिर्फ शास्त्रीय नज़रिए से ऐसा हो'' मैंने कहा, ''पर कौन जानता है कि वही नज़रिया अन्य किसी नज़रिए से बेहतर हो ?''

''क्योंकि यह सच है''

''क्या आप मज़हबी कट्टरता (orthodoxy) के खिलाफ नहीं लड़ रही हैं?''

''मैं सच्चाई के लिए लड़ रही हूँ। जो औरतें परेशान हो जाती हैं वे मज़हब में पनाह ढूँढती हैं और मज़हब, उन्ही के लिए है। मज़हब है ही कमज़ोर, परेशान, मूढ़, बेवकूफ लोगों के लिए। पर हमें कमज़ोर या परेशान होना ही क्यों चाहिए?''

''क्या आप जानती हैं तस्लीमा, कि आपके आलोचक (critics) कह सकते हैं कि आप भी उसी गड्ढे में गिरी जा रही हैं, जिसमें आप कहती हैं कि मज़हबी लोग गिरते हैं ? आप तो शास्त्रीय श्रेष्ठता की दावेदार हैं ?''

''मैं वैसी नहीं हूँ। मैं तो सिर्फ सच के लिए हूँ। वह बड़ा सच नहीं जो खुदा का होता है परंतु सिर्फ सच।''

''परंतु आप तो खुदा में विश्वास ही नहीं करतीं ?''

थोड़ी बातचीत के बाद उनका 'बड़ा सच' भी निकल आया – ''मैं मज़हब को मिटाना चाहती हूँ क्योंकि मज़हब मानवता के खिलाफ है। अगर ऐसा नहीं है तो मुझे उससे कोई परेशानी नहीं है।''

खैर यह इतना तो मान सकते हैं।

न मानने वाली बात तो यह है कि मज़हब निर्दयता से मानवता के खिलाफ है। जैसा जिम्मी कार्टर कहते हैं, इस्राईल के बेगिन और मिस्र के सादात इसलिए हाथ मिला सके, क्योंकि वे अपने अपने यहूदी और मुस्लिम मज़हब के मूल्यों पर निर्भर थे। महात्मा गांधी की हत्या की गई, पर दुनिया को हिलाने वाले उनके अहिंसा के मूलमंत्र को हिन्दू और जैन मतों से लिया गया था। दलाई लामा भी तो मज़हब को स्वीकार करते हैं–उनका तो कोई भी 'सेकुलर' मानवतावादी विरोध नहीं करता और उन्हें तो अपना पद वंश के आधार पर ही मिला है।

मज़हब के कई कट्टर प्रचारक जैसे दलाई लामा, मार्टिन लूथर किंग, आर्च–बिशप टूटू या माल्कम एक्स–इनको हम 'मज़हबी' होने के बावजूद क्षमा तो कर ही सकते हैं, क्योंकि उन्होंने मज़हब का प्रयोग सुधार के लिए किया है। अपने आपको और अपने साथी लोगों को पीड़ा और कमज़ोरी से ऊपर उठा दिया है। दुनियाभर के मुसलमानों के लिए हम पश्चिम के लोग इसी परिवर्तन – बदलाव का संदेश पहुँचा सकते हैं। यह तभी संभव होगा, जब हम इस्लाम के 'फासिज़्म' से ही नहीं उसके जुनून उभारने वाले बनने से इन्कार कर दें। ये ही लोग मुसलमानों की हीनता की भावना को और बढ़ाते हैं और कहते हैं कि बदलाव का भारी बोझ कोई दूसरे उठा लें। हमे अपने ही पीड़ित होने की भावना को उतार फेंकने की ज़रूरत है।

यह आसान तो नहीं होगा। मुसलमानों को अपनी निष्क्रियता से बहुत सावधान रहना होगा। हम **खुदा पर कुछ ज़्यादा ही भरोसा करके खुद को बहुत छोटा बना देते हैं। सहजता से कह देते हैं ''इन्शाल्ला'' ! नहीं । 'खुदा की मर्जी हो तो' यह नहीं – हमें खुद की इच्छा से काम करना होगा। इन्साफ के रास्ते पर खुदा के मददगार बनना होगा।** 'मगर हम होते कौन हैं ?' आपमें से कुछ सवाल करेंगे। हमारे दिमाग में तो ठूंस के भरा रहता है ''अल्लाहू–अकबर'' – अल्लाह महान् है।'' पर जब मैंने खुद को पढ़ी लिखी बनाया, तब इसका असली मतलब समझ में आया। **अल्लाह सबसे बड़ा है। हाँ बड़ा तो है उसके सारे प्राणियों से – पर इससे हमारी क्षुद्रता तो नहीं जाहिर होती।** मूलतः जब हम ''अल्लाहू–अकबर' कहते हैं तो हमें याद रहता है कि हमारे कार्य में नम्रता हो। मैं अपने आप में ही तो गर्क नहीं रहती ? **क्या यही बात उनके बारे में कह सकते हैं जो विवेक के खिलाफ फतवे निकालते रहते हैं ?** या हमी में से वे जो इन फतवे निकालने वालों की बातों से ही प्रसन्न रहते हैं ?

मेरी जिन्दगी में ये आतंकवादी दस–बीस को मारने से सैंकड़ों, हज़ारों और शायद लाखों आदमियों को मारने तक पहुँच जाएंगे। इसी अवधि में वैटिकन ने अपने यहूदी विरोधी और 'शहीद' के विचारों को खत्म कर दिया है और बच्चों या औरतों के उत्पीड़न से जाहिरी तौर पर कार्रवाई कर रहे हैं। **शायद उन नाराज़ बगावती कैथलिकों की वजह से।**

मैंने यह खुला पत्र सारी सच्चाइयाँ जानकर लिखा है। उदार मत के इस्लाम का सुधार ज़रूर होगा–उन्हें किसी 'पोप' साहब को तो नहीं मनाना है–पर यह करो या मरो वाली बात होगी। **अगर चुप रहें तो कुछ भी नहीं होगा।**

एक इस्राइली पत्रकार हलेवी – निष्ठावान् यहूदी और अच्छे मित्र – सोचते हैं कि मैं आप लोगों से कुछ ज़्यादा ही सख्ती से पेश आई हूँ। उन्होंने एक किताब लिखी है – ''ईडन के दरवाज़े पर'', जिसमें यरूशलम में मुसलमान और ईसाइयों के साथ प्रार्थना करने की उनकी कोशिश का वर्णन है। सारे मुसलमानों में से केवल सूफियों ने साथ प्रार्थना करने के लिए उनका स्वागत किया। उनका मत है कि सूफियों को किनारे पर रखकर मुसलमानों का ही नुकसान हुआ है। फिर भी वे कहते हैं, ''अपना दृष्टिकोण ठीक रखो। सभी मज़हब कुछ कठिन समयों में से गुज़रते हैं। दूसरे दोनों मज़हबों को स्थापना के चौदह सौ सालों के बाद की स्थिति याद करो। ईसाइयत मज़हबी जाँच और कत्लों के दौर में था, और यहूदी लोग अपने ही पुराने ढर्रे में फँसे हुए थे।''

इन दोनों की तुलना में 'नए' इस्लाम को खासकर आज के नौजवानों को हमारी गलतियों के लिए माफ तो नहीं कर सकते, जब वही पुराने मध्ययुगीन गुनाहों की नकल किए जा रहे हैं। **आज का बोस्टन में पढ़ा हुआ अरबी मुसलमान भी इसी सोच में फँसा है कि वह यहूदियों के साथ भी प्रेम से रह सकता है बशर्ते कि वे इस्लामी**

कानून के नीचे हों, क्योंकि यही प्रकृति का नियम है।'' मैं समझती हूँ कि इसी तरह के विचार मुख्यधारा के मुसलमानों की आत्माओं में भी पूरी तरह से भरे हुए हैं।

हलेवी ने मुझे फिर से कहा था, ''तुम्हारी लिखी बातों में कुछ प्रेम की ज़रूरत है। मुल्लाओं के लिए नहीं, पर उन करोड़ों–करोड़ों व्यक्तियों के लिए जिन्होंने अपनी–अपनी प्रार्थना की कसीदेवाले चटाइयों पर सिर टेक कर अपनी छोटी–छोटी परेशान जिन्दगियाँ खुदा की नमाज़ पढ़ने में कुर्बान कीं। ''माफ करना इस भावना को ठेस लगाते हुए, **पर इतनी सारी जिन्दगियाँ क्षुद्र थीं और झूठ बड़े–बड़े थे। याद होगा खलिफा अल–मामून, जो स्वतंत्र विचारों का प्रचार करता था, परंतु इस्लाम के बारे में उसके अपने जो विचार थे, उनका विरोध करने वालों को कोड़े लगवाता था। उन दिनों मैं और आज में क्या कोई फर्क है ?**

तो अब मैं इस्लाम के लिए एक आखिरी दौर में हूँ। मैं इससे आगे चली जाऊँ यह तो मुझ पर ही निर्भर है पर एक तरह से यह तो हम सब पर निर्भर है। **मैं जो देखना चाहती हूँ, वह है एक सुधार–बदलाव की भूख। ऐसी भूख जो हमें कुछ करने को प्रेरित करती है।**

1. **क्या हम अपने आचारों से निकल कर अपने विचारों को जगाकर दुनिया के मुसलमानों को डर, भूख और अज्ञान से ऊपर उठा सकेंगे?**
2. **क्या हम इस अंधविश्वास से निकल सकेंगे कि कुरान के बारे में कोई सवाल नहीं किया जा सकता है। जब हम खुल कर पूछते रहेंगे कि यह आयतें कहाँ से आई, उनका कैसे किसी और तरह से अर्थ निकाल सकते हैं, और उनका आपस में विरोध क्यों है (जैसा कि हर मज़हबी पुस्तक में होता है) तो हम सिर्फ एक कबीले वाली तानाशाही को ही भंग कर रहे हैं।**
3. **अगर मेरा विवरण गलत है, तो आप ही बताइए कि और किसी मज़हब में से इतने सारे आतंकवादी क्यों नहीं पैदा होते और खुदा के नाम में मानव अधिकारों का हनन क्यों नहीं होता ? यह बताते हुए आप मुसलमानों को छोड़कर अन्य किसी पर भी अँगुलियाँ न उठाएं।**

आप मुझे जवाब दे सकते हैं। – मेरे वेबसाइट के पते पर www.muslim-refusenik.com । मैं सच्चाई से बातचीत का इन्तज़ार कर रही हूँ।

ईमानदारी से – (अभीतक)!
इर ाद

उपसंहार (Afterword)

एक मुस्लिम दुतकारी औरत - इरशाद मांझी- के कुछ विचार और कुछ स्वीकार

मैं एक प्रवास कर रही हूँ और ऐसे प्रवास में हमे ाा ही रास्ते बदलते रहते हैं। इसीलिए मेरी किताब की इस नयी आवृत्ति पर आप नया भीर्शक (Title) देख रहे होंगे।

मैंने 2003 के अंत में ''इस्लाम के मसाइल'' किताब लिखी ताकि कुछ सवाल कर सकूँ – कुछ चर्चाएं हो सकेंगी – कुछ और भी। पर एक बात से बड़ा ही अचंभा हुआ – बार–बार यही सुनने में आया – ''किताब के अंदर क्या है इसको छोडिए, हमें तो उसके भीर्शक पर ही आपत्ति है। या फिर ''इस्लाम से कोई परे ाानी नही है – बस मुसलमानों से है।''

भाायद ये लोग सही थे। मुसलमानों को अपने आप पर टीका करने को प्रेरित करते–करते मुझे खुद कई ठोकरें लग चुकी हैं। किन्तु जब कुछ आपसी विचार–विम र्ा करना हैं तो हमें छोटी बातों से ऊपर उठना पड़ेगा। अगर किताब का नाम ''मुसलमानों के साथ परे ाानियाँ'' रखा जाए तो उसमें भी कुछ विवाद खड़े होंगे! कुछ लोग जरूर कहेंगे कि यह बस राजनीति से ही प्रेरित है – या यह एक खास जन समूह पर ही हमला है। हाँ, किताब बिकने के लिए तो ठीक है पर इससे हमारे मनकी बातें तो नहीं निकलेंगी, न?

फिर हल क्या निकला? इस नयी आवृत्ति में नाम बदलकर ''आज इस्लाम के मसले'' कर दिया है। 'आज' भाब्द डालने से मैं समझती हूँ काफी कुछ हल हो जाएगा। आखिरकार मैंने यही तो दिखाने की पूरी कोि ा ा की है कि किसी समय इस्लाम दुनिया में सब से आगे था – चाहे खोज करने में, चाहे चीज़े बनाने में या नए तरीके ढूंढने में। इस्लाम ने आज की पा चात्य संस्कृति को भी बहुत कुछ आकार दिया है जिसके लिए उन्हें इस्लाम का भुक्रिया अदा करना चाहिए।

मुझे फिर से कहने दीजिए कि समस्या इस्लाम के साथ नही है पर आज के इस्लाम से है। चलिए मैंने अपनी गलती तो मान ली, अब मुझपर बार–बार टीका करने वालों से भी सुनना चाहूँगी कि वे कहाँ गलत हैं!

और मेरे बहुत से निंदक हैं। मुझे नापसंद करने वाले कई मुस्लिम फिर भी बातचीत में ठोस विचार और सोच से काम लेते हैं। पर कई गुना ज्यादा तो ऐसे लोग हैं जो मुझे बिलकुल ही चुप कराना चाहते हैं। मेरी वेबसाइट पर कई धमकियाँ आती रहती हैं। ये क़ातिलाना विचार के लोग मुझे भाहीद होने की अच्छाइयाँ भी गिनाते रहते हैं! चाहते तो है कि मुझे 'दोजख की आग' में झोंख कर वे खुद अपनी सत्तर हूरें हासिल कर लें! कुछ इतना ही जानना चाहते हैं कि मैं किस हवाई जहाज से सफर कर रही हूँ।

इनमें कई धमकियाँ भी मज़ेदार होती है। 'बावित' नाम के आदमी ने लिखा है ''क्या सिर्फ दिमाग़ है इसीलिए उसका प्रयोग भी करती रहोगी?'' अब पूछ ही लिया है तो बता भी दूँ – पर फिर कहता है ''यह कुफ्र फैलाना बंद कर दो और वक्त रहते हुए माफी माँग लो। तुम्हारे जैसे लोग़ तो इस दुनिया में रहने ही नहीं चाहिए – इसीलिए तो दोजख बना है, यहाँ जितना लुत्फ ले सको, ले लो क्योंकि बस खुदा ही जानता है कि मांजी का क्या होने वाला है।''

मान्ट्रिअल के हवाई अड्डे पर एक मुसलमान आदमी मेरी सहेली के पास आकर बोला, ''तुम तो अपनी सहेली से ज्यादा किस्मत वाली हो।'' जब उसकी तरफ सवालिया नज़र से देखा तो उसने हाथ से पिस्तौल की भाक्ल बनाई और गोली चलाने की ऐक्टिंग की। जब उसे साफ–साफ कहने के लिए बोला तो कहा ''उसे तो बाद में ही पता चलेगा कि इस का मतलब क्या है''।

मैंने डरकर कभी नहीं जिया है – एक बार भी नहीं। मैंने जब इस किताब को लिखना भाुरू किया ही था तब सलमान रु दी ने मुझे जो कहा था वह आज भी ताज़ा है। मैंने उन्हें पूछा कि एक जवान मुस्लिम लड़की को ऐसी किताब लिखने को क्यों कहा जिससे उसकी ज़िन्दगी में कहर हो सकता है? इस बात का तो उन्हें खुद भी तजुर्बा है। तब बोले ''क्योंकि एक किताब ज़िन्दगी से बढ़कर है।'' मैंने हँसते हुए सोचा अब भाायद कुछ गंभीर बात कहेंगे! ''मैं थोड़ा विस्तार से बताता हूँ,'' उन्होंने कहा ''जब लेखक एक विचार प्रकट करता है तो वाचक इसका धिक्कार कर सकते है विरोध कर सकते है, जो ा से, या ताकत से भी! **पर उस विचार को मिटा नही सकते! वह तो एक अनमोल अमिट तोहफा है जो लेखक इस दुनिया को देता है''।** कितनी बड़ी बात कह गए! जीने का सहारा हो जैसे!

इन धमकियों के अलावा कुछ अच्छी खबरें भी हैं। अपने साथी मुसलमानों से उम्मीद से कहीं बढ़कर ही सहारा मिला–प्यार भी मिला। दो खास तबको के लोगों ने खूब सहारा दिया – मुस्लिम औरतें और नौजवान मुसलमान – मेरी वेबसाइट पर ढेरों चिठ्ठियाँ आईं कुछ भुक्रिया कहने और कुछ एक मुक्ति की भावना से। सलमा नाम की लड़की ने लिखा, मैं सालों साल से पूछती आई हूँ कि कुरान में और इस्लाम में औरतों का क्या स्थान है? पर जवाब कभी मिला तो इतना ही 'ओह सलमा तुम एक दिन समझ जाओगी'। आपके साफ–साफ सच्ची बात लिखने, इतिहास में खोज करने और मानवता के साथ प्रेम के लिए भुक्रिया।''

जिन मुस्लिम आदमियों नें अपने विचार लिखे उन्होंने हर वक्त अपने जीवन में भागिल हुई या रि तों की औरतों का ज़रूर ज़िकर किया। बड़े लगाव से – कभी एक बेटे की हैसियत से कभी भाई की – अन्वर ने जो लिखा वह मन को छू गया। ''आपकी वेबसाइट पर कई ऐसे संदे ा हैं जिनसे उनके ज़हरीलेपन का अंदाज़ हो जाता है। अपनी लड़ाई ज़ारी रखिए आप न्याय के सही रास्ते पर हैं। मेरी तीन लड़कियों के लिए आप ही आद र्ा हैं।''

मुझे बिलकुल स्तंभित करने वाली चिट्ठी थी एक मुस्लिम औरत की जो कान्सास (अमरीका) में रहती हैं। सालों साल वह भाब्द ाः कुरान का पालन करती आई थीं और सब हिदायतों को खुदा की देन ही समझती थीं। उन्होंने कहा ''अब मैं अपने दिल के गीतों को दबने नही दूंगी। मेरे कला की तरफ झुकाव का भी खंडन नही करूंगी।'' पर यह सब करते, कहते उसे घोर अकेलेपन का सामना करना पड़ रहा है। कहती हैं ''मेरी आपसी बातचीत और सोचविचार की अधूरी तमन्नाओं से मैं परे ाान हूँ। इस दुनिया में आदमी और औरत को अलग–अलग नज़रिये से देखा जाता है। मैं कैसे मान लूँ कि आदमी तो अपनी बात अधिकार से रख सकता है – पर मैं जो पत्नी और माँ के रि तों को ईमान से निभा रही हूँ उसकी तो कोई पहचान ही नहीं है। जैसे यह तो मेरा फर्ज ही था – कोई बड़ी बात या त्याग तो नहीं था। मैं एकदम आखिरी मोड़ तक पहुँच गई हूँ।'' उसने एक और भी प्रण कर लिया है, चाहे जो भी हो जाए। कहती हैं, ''मैं सोचती हूँ कि सुधार की प्रकिया एक मंत्र बन सकती है। मेरी निश्ठा सिर्फ अच्छे विचार और आद ार्ों के साथ जुड़ी रखूंगी चाहे यह बात उन पग्गड़ वाले या टोपी वाले, या हिज़ाब पहनने वालियों को पसन्द आए या न आए; कभी भी किसी खास जनसमाज, ढकोसले या संस्कृति के साथ नही रहूँगी।

आज़ादी का यह मतलब तो नहीं है कि उसमें भ्रश्टाचार नहीं होता! आज़ाद समाज में जैसे प्रतिभावान् मतों को या व्यक्तियों को बढ़ावा मिलेगा, वहीं समाज सबसे भ्रश्ट लोगों को भी जीने देगा। पर इस वजह से आज़ादी को कम करना या रोकना गलत होगा। उससे केवल सबसे नीचतत्त्व ही पनपते रहेंगे। खुदा की दी हुई 'चुनने की भाक्ति' को आप झुठे प्रचार के आधार पर रोक लेते हैं – तो उससे अच्छा तो यही होगा कि खुली अनैतिकता को ही बढ़ने दें!'' कितनी अच्छी बात कही है – फिर भी मुझे समाधान क्यों नहीं हो रहा है?

क्योंकि अभी भी ऐसे सुधारवादी मतों को चुप्पी में दबा के रखा जा रहा है। मुझे बधाई देने वाले या मेरे खुले भाशणों के बाद हलके से धन्यवाद कहने वाले ज्यादातर लोग कहते हैं कि वह अभी खुल कर कुछ नहीं कह सकते! उन्हें यही डर रहता है कि अगर वे मज़हब के बारे में अपने विचार प्रकट करेंगे तो परे ाानियों का सामना करना पड़ सकता है। ये परे ाानी उन्हें जात बाहर कर देंगे या समाज से अलग होना पड़ेगा ऐसी नही हैं – उन्हें डर है कि उनको और उनके परिवारों को उनके ही साथी मुसलमान भारीरिक क्षति पहुँचाएंगे।

मैं उनके डर को बढ़ाना नहीं चाहती। <u>बस यही दिखाना चाहती हूँ कि इस्लाम को सुधारने में कोई ख़तरा नही है।</u> इसीलिए मैं हर वक्त अपने बॉडीगार्ड को साथ लेकर नहीं जाती हूँ। वैसे मेरे लिए तो और भी ख़तरा हो गया है (ऐसा मुझे सुरक्षा अधिकारी बताते हैं), क्योंकि अब मेरी किताबें अरबी भाशा और उर्दू में भी छपी हैं, जो भारत और पाकिस्तान में बहुत चलती हैं। दर असल बात तो यही है कि अगर मैं मुसलमानों को इसी बात पर मनाना चाहती हूँ, कि हम लोग सत्ता के खिलाफ़ लड़ते हुए भी जी सकते हैं तो यह नही हो सकता कि मेरे पीछे हर वक्त एक मोटा आदमी खड़ा होकर सबको घूरता रहे! मुझे तो एक नमूना पे ा करना होगा, न?

चलो यहाँ तक तो ठीक है। इस्लाम के बारे में चर्चा करते हुए मैंने ब्रिटेन से बेल्जियम, ऑस्ट्रेलिया से कनाडा, हॉलैंड से अमरीका तक; दुनिया भर के प्रवासों में काफी सुरक्षित महसूस किया है। इसी से मुझे यकीन हो गया है कि अब पि चम के मुसलमानों को इज्तिहाद को फिर से भारू करने का बहुत अच्छा मौका है। इसी से इस्लाम की पुरानी स्वतंत्र विचार करने या सोचने की प्रथा फिर से जीवित हो कर पनप सकती है।

मैं इस बात से तो इन्कार नहीं करती हूँ कि कई मुसलमानों को पि चमी दे ाों में परे ाानियाँ झेलनी पड़ी हैं, उन पर नज़र रखी गई है और उनके साथ भेद–भाव भी किया गया है। मैंने खुद सन् 1991 में खाडी युद्ध के दौरान इसे भुगता है, जब मुझे बिना किसी कारण के एक सरकारी भवन से निकाल दिया गया था! पर इससे एक बड़ी बात को नही झुठला सकते कि पि चम के मुसलमान अगर अपने कुरान भारीफ के बारे में सवाल पूछने की हिम्मत कर सकते हैं और उसी के सहारे जो मानवीं अधिकारों का हनन हो रहा है इसकी निन्दा करते हैं तो हमें इस बात की तो चिन्ता नहीं होनी चाहिए कि वहाँ की सरकार से हमें जेल भेजा जाएगा, पत्थर मारे जाएंगे, कोड़े पड़ेंगे या जान से हाथ धोने पड़ेंगे! जैसा मैं पहले ही कह चुकी हूँ हममें से कई तो यह बात समझ चुके हैं पर हममें से ही अधिकतर लोग खुलकर इन बातों को नहीं कह रहे हैं।

अब हमारे सामने यही चुनौति है कि बदलाव के लिए हमारी **<u>छिपी हुई भूख को खुले में लाकर ज़ाहिर करना होगा।</u>** मैं खुद हमारे जवान मुसलमान और गैर मुसलमानों के साथ मिलकर इसे बढ़ा रही हूँ। आप भी चाहते हैं तो मेरी वेबसाइट पर जाकर संपर्क में रह सकते हैं।

अभी तो मै अपनी कुछ – छोटी ही सही – क़ामयाबियों की खुि याँ मना रही हूँ! और वे हैं भी कई –

मेरे मध्य पूर्व के प्रका ाकों के नहीं चाहने पर भी मेरे जवान मुसलमान दोस्तों ने मेरी किताब को अरबी भाशा में छपवा कर उसे इन्टरनेट पर भी डलवा दिया ताकि वे बिना परे ाानी या काटछाँट के उसे पढ़ सकें

मेरी किताब अरबी में छपने के दो दिन बाद में जॉर्डन के एक जवान लड़के ने ई–मेल भेजा कि वह एक ग्रुप बनाकर सारे विशयों पर चर्चा कर के सारी बातों का प्रचार भी करेगा।

वह अमरीकी अरब औरत जो मेरे भाशण के दौरान मुझे तुच्छता से देखती रही पर भााम खत्म होने से पहले ही भाांत स्वर में मान गई कि ''हम मुसलमानों को काफी विचार करने की ज़रूरत है।''

ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में मिला एक मुस्लिम युगल जिन्होंने क़बूल किया कि वे कभी नहीं सोचते थे कि मुझसे सहमत होंगे – पर फिर यह पूछने लगे कि वे क्या मदद कर सकते हैं।

उत्तरी अमरीका के यहूदी और मुस्लिम विद्यार्थी पहली बार साथ बैठकर अपने मसले सुलझाने का प्रयास कर रहे हैं।

फ्रांस की वह नास्तिक जिसके आरामदेह विचारों को काफ़ी धक्का लगा पर अब कहने लगी मैं दोस्तों को तो यह बता भी नहीं सकती – वे तो मुझे पत्थर मारेंगे।

आस्ट्रेलिया का वह मुसलमान जिस ने मुझे कहा ''तुम्हारी किताब यहाँ ज़रूर बिकनी चाहिए ताकि यहाँ की नई पीढ़ी को पता चले कि उनको इस्लाम के नाम पर जुल्म करने वालों के ख़िलाफ आवाज़ उठानी है।

सऊदी अरब की वह लड़की जिसने एक नाराज़ बुजुर्ग को न्यूयार्क में बताया कि यही बिलकुल सही समय है ऐसी किताब के लिए!

अटलान्टा (अमरीका) की वह हिज़ाब पहनी हुई औरत जिसने कहा कि वह मेरे लिखे किताब से इतनी विचलित हो गई कि अब वह भी अपनी एक किताब लिखने जा रही है। (हाँ मैंने उससे जो वादा किया था कि अपने प्रका ाक से मिलवाऊंगी वह अभी भी कायम है!)

मेरी सबसे अच्छी कहानी तो मेरी माँ के पूरे बदलाव की है। पहले तो मुझे क़ाफी फिक़र होती थी – या कहिए दोशी पना लगता था – कि मेरे किताब का उनपर क्या असर होगा। मेरी सुरक्षा की चिन्ता ही नहीं पर समाज की मंजूरी की फिक़र थी।

एक दिन माँ ने मुझे फोन किया कि मेरी किताब छपने के बाद पहली बार ही वह मस्जिद में गई थी। क़ाफी लोग टीका करेंगे इसके लिए तो वह तैयार ही थी – जो बहुत कुछ मिल भी गई! इमाम साहब ने मुझे ओसामा–बिन–लादेन के साथ–साथ वि व के मुस्लिम उम्मा (समाज) में फूट डालने का दोशी करार दिया। अपने आँसू जैसे–तैसे रोककर वह पूरे भाशण में बैठी रही। बाद में कई लोगों ने उसे चुपके से आकर बताया कि ''जो इर ााद ने कहा है वह तो कहा जाना ही चाहिए था।'' उनकी बातों से माँ को बहुत दिलासा मिला कि मैं अपने आप से नफरत करने वाली मुसलमान नहीं थी जो इस्लाम के खिलाफ कोई निजी लड़ाई लड़ रही हो।

दो हफ्ते बाद मैं अपने किताब के प्रचार के दौरान माँ के पास थी। उस वक्त उन्होंने चुपके से मेरे सूटकेस में एक चिट्ठी रख दी जो मुझे वापस आने के बाद ही मिली। उसमें सामने लिखा था '' ााबा ा'' और अंदर लिखा था ''बढ़ते जाओ, बेटी!'' आज भी मैं वह कार्ड हर जगह ले जाती हूँ। बहुत खु ाी होती है कि मेरी माँ जैसी भक्ति में लीन औरत भी मेरे चुभते सवाल सुन सकती है, सह सकती है – चाहे वह उनके बहुत भावनाओं पर वार कर रहे हों!

माँ ने कुछ दिन पहले मुझे कहा ''तुम ने मुझे मेरी आवाज़ वापस दी है।'' और भी कई लोंगो ने मुझे यही कहा। प्रार्थना करती हूँ हम सब अपनी आवाजें इकट्ठा मिला कर इस भयानक चुप्पी को तोड़ सकें – हमे ाा के लिए!

इर ााद मांजी
टोरन्टो 2005

कुछ प्रतिकियाएं

इरशाद मांजी की पुस्तक ''आज इस्लाम की परेशानियाँ'' के दो संस्करण अंग्रेज़ी में कनाडा से और अब भारत से भी छप चुके हैं। इसको अरेबिक एवं उर्दू में भी प्रकाशित किया गया है। पूरी जानकारी के लिए उनकी वेबसाइट www.muslim-refusenik.com देखें। इसीपर सारे संदर्भ भी मिल जाएंगे। कई देशों में किताव पर प्रतिबंध लग गएं इसलिए कुछ वेबसाइट पर भी उपलब्ध हैं ।

छपने के वाद दुनिया के सभी देशों में टीकाप्रद या प्रशंसात्मक लेख छपें। उनमें से कुछ ही नीचे उद्धरित किए जा रहें हैं।

- आइये एक साफ हकीकत का सामना करें। मुझे इरशाद मांजी से नफरत करनी चाहिए। अगर मुसलमान उसकी सुनते हैं तो वह मुझ जैसे लोगों को सुनना बंद कर देंगे ... एक इमाम् साहब
- ''ईमानदारी और सुधार के लिए एक जोरदार पुकार।'' - ग्लोब अैन्ड मेल

- ''इरशाद ने कहीं भी अपनी मुस्लिमता की पहचान नही छोडी है। क्या करना चाहती है वह बहुत साफ है - वह ये मानने को तय्यार नही है कि इस्लाम एक ठहरा हुआ और सख्त ढांचा है।'' - फ्राइडे टाइम्स पाकिस्तान
- ''मैं इरशाद को यही कहूंगी कि अपना स्पष्ट, और आज़ाद रवैय्या क़ायम रखें। उस के मुद्दे पिछले कई दशकों के सबसे अहम् मुद्दे हैं।'' - जेन मान्सब्रिज, हार्वर्ड की प्रोफेसर
- ''एक ऐसी किताब जो पढनेवाले को सवाल पूछने का आह्वान देती है।मुसलमान समाज के चुप रहनेवाले लोगों का कर्तव्य है कि वे इस संभाषण में हिस्सा ले लें।''- विन्निपेग फ्री प्रेस
- ''उभरती लोकतान्त्रिक विचारधाराओं में जवान मुसलमान अपनी आकांक्षाओं के अनुसार कुछ कहना और करना चाहते हैं। वे क्या कहना चाहते हैं यह आपको इरशाद के हिम्मतवाली किताब से मालूम पडेगा। - थामस फ्रीडमैन, न्यूयार्क टाइम्स
- ''यह झूढ फरेब वाली किताब अब इस्लाम के लिए एक गाइड़ बन गई है''- अरब न्यूज़ सऊदी अरब
- ''इरशाद ने जो कहा है उससे मुझे बहुत आश्चर्य हुआ।और मै बहुत आभारी भी हूं।'' - हिशाम हसवल्ला - 'मुस्लिमवेकअप.कॉम्
- ''हमनें पढा था 'कोई भी व्यक्ति मज़हब या संस्कृति छिपाए रखकर नही कह सकते कि वही अच्छी है। दरवाजें खोलकर सबके साथ रहें तो पता लग ही जाएगा कि सच में कौन बेहतर है। - शमीम, बांगलादेश
- ''आप ने वही कहा जो एक मुसलमान होकर मैं नही कह सकी, चुप ही रही।डर तो लगता है पर मैं चाहती हूँ कि लोग़ आप की अरेबिक किताब पढें।शुक्रिया।'' - मिस्रसे एक औरत
- इस किताब की बहुत सीधी नीति लगती है कि लोग उसी बात पर ध्यान केंद्रित करें जिस के बारे में वे कुछ कर सकें। फिर उसमें चाहे जितनी गलतियां हों वह एक बुनियादी नैतिक ज़िम्मेदारी ले लेती है। जस्टीन-पोडर
- लगता है कि मांजी इस्लाम पर केवल अपने निजी स्वतंत्रता के लिए ही ध्यान देती है, उसके आध्यात्मिक पहलूओं को नही देखती। उसके लिए यही महत्व रखता है कि रोजमर्रे के जीवन पर क्या असर होगा और वह भी उस को पश्चिम में मिलनेवाले व्यक्तिगत आज़ादी पर! दी हिन्दू **2004**